द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के

सभापति

श्रीमान् पं० गोविन्दनारायण मिश्र की

वक्तृता

प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक

हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग

द्वितीय संस्करण
१०००

मूल्य ।)

द्वितीय

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

के

सभापति की वक्तृता

प्रिय सज्जनो, आप लोगों ने जिस प्रकार मेरा स्वागत किया है उसे देखकर मैं स्तब्ध हो गया हूं। जिस समय बालिकाओं ने वेद-ध्वनि से मेरा अभिनन्दन किया उस समय मुझे एक पुरानी आख्यायिका स्मरण हो आयी। (यहाँ आप ने सारस्वत ऋषि के अपनी माता से वेदाध्ययन करने की आख्यायिका सुनायी)। मुझे मालूम हुआ कि युग बदल रहा है। उस मधुर वेदध्वनि को सुनकर मैं गद्गद् हो गया। जुलूस के सम्बन्ध में आप लोगों ने जो प्रबन्ध किया उसकी यथार्थ प्रशंसा करने के लिए मैं अपने को असमर्थ मानता हूं। इन सब बातों के साथ ही यहाँ आने पर मेरे पुराने मित्र पण्डित बालकृष्ण भट्ट और पण्डितवर बदरीनारायण चौधरी ने जिन शब्दों में मेरा नामोल्लेख किया उन्हें सुनकर मैं चकित हो गया। मित्र होकर इन महाशयों ने जिस प्रकार मेरी प्रशंसा की है उससे मुझे बहुत ही संकोच हुआ है। मुझ में योग्यता कुछ भी नहीं है परन्तु योग्यता आप में है। जिसको चाहें आप लोग योग्य बना सकते हैं। मेरा प्राकृत ज्ञान भी यथेष्ट नहीं है। मेरे सम्बन्ध में मेरे मित्रों ने

अतिशयोक्ति की है। परन्तु आप लोगों की आज्ञा शिरोधार्य मान मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूँ।

[इसके बाद आपने अपना छपा व्याख्यान पढ़ना प्रारम्भ किया। इसी बीच में व्याख्यान की प्रतियाँ बाँट दी गईं। सभापति महाशय ने अपनी वक्तृता का कुछ अंश स्वयं पढ़ा और अवशिष्ट अंश पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी जी से पढ़वाया।]

प्रिय हिन्दी हितैषी विद्वद् वृन्द, स्वागतकारिणी के सभापति महोदय, सुयोग्य सभासदो, और समुपस्थित सज्जनो! इस परम पवित्र तीर्थराज प्रयाग की प्रसिद्धि, प्रधानता, और पृथ्वीतल के सब तीर्थों की अधीश्वरता का भी प्रधान कारण, सरस्वती पिता परिणामदर्शी विश्वविधाता सुचतुर शिरोमणि चतुर्मुख ब्रह्मा का इस परम पुनीत सिता-सित-संगमस्थल पर 'प्रकृष्टयाग' करना ही लोक प्रसिद्ध है। आज सौभाग्य वश इस ही सुप्रसिद्ध तीर्थराज में, विद्वज्जन-साहित्य-सम्मेलन मिस से इस अनूप जंगम रूप से तीर्थराज प्रयाग ने मानों प्रत्यक्ष सशरीर सजीव दर्शन दे, नेत्रों को कृतार्थ किया। साथ ही 'मातृभाषा' हिन्दी सरस्वती की निश्छल सेवार्चना, और उन परम पूजनीय मातृचरणों पर प्रेम पुलकित प्रफुल्ल मन मनस्वी मर्मज्ञ विबुधों का सुगंधित सुमनाञ्जलि प्रदान पूर्वक एकाग्रवृत्ति से कायिक वाचिक मानसिक आराधन रूप इस 'प्रकृष्ट' सर्वोत्कृष्ट 'याग' के सदनुष्ठान से, आज 'प्रयाग' नाम की अक्षरशः सार्थकता भी निर्विवाद प्रत्यक्ष देखने में आ रही है। निस्सन्देह माता पिता के समान पुनीत और सेवनीय परमोत्तम तीर्थ पृथ्वीतल पर दूसरा नहीं है। उनमें

भी मा की तुलना तो त्रिलोकी में किसी से नहीं हो सकती। पूजनीयों में मातृचरणों का दिव्य सिंहासन, सर्वोपरि विराजमान है। "तेभ्यो माता गरीयसी" और "न मातुः परं दैवतम्" आदि हमारे परम पवित्र और प्रभावशाली शास्त्रीय वचन, इस उक्ति की सत्यता का ही सिंहनाद दिन रात डंके की चोट ऊँचे स्वर से सुनाते हैं। मातृभाषा हिन्दी में हमारी सबसे प्यारी उस परम पूजनीया मा की सुमधुर सुकोमल पवित्र कण्ठध्वनि, अनुक्षण प्रतिध्वनित हो, उस स्नेह-मयी जननी की परमाराध्य, पवित्र, पर परम दुर्लभ प्रेममयी सुन्दर सरलमूर्त्ति का प्रत्यक्ष कराती है। इसकी यथाशक्ति सेवा और भक्ति सहित आराधना करना ही हमारा परम कर्त्तव्य धर्म है। इससे विमुखों की ही कुपूतों में गणना की जाती है। भारतसन्तानों में विशेषकर हिन्दी भाषा भाषी और हिन्दी हितैषियों में कोई विरला ही ऐसा मन्द भाग्य होगा कि शक्ति, सामर्थ्य और प्राणों के रहते इस मातृपूजा के प्रकृष्ट परमोत्तम यागानुष्ठान में प्रवृत्त होने को अपना परम सौभाग्य न समझे। मुझे इस सुविख्यात सभा का सभापति मनोनीत कर आज आप लोगों ने सविशेष सम्मानित किया है। जिस स्वागत-कारिणी सभा के सभापति स्वाधीन चेता, स्पष्टवादी, दृढ़व्रत, बहुदर्शी, विद्वत्पूज्य, स्वनामधन्य पण्डितवर बालकृष्ण भट्ट हैं, तथा जिसके सभासद्मात्र आदर्श पुरुषरत्न और परमोच्च श्रेणी के पण्डित कुल तिलक विद्वान् हैं, उनकी आज्ञा अगत्या शिरोधार्य करनी ही पड़ी। क्योंकि ऐसे ऐसे सर्वमान्य नामी बहुज्ञ और विशेष प्रतिष्ठित पण्डितवरों की आज्ञा का न मानना उन मान्यवरों का निरादर करना ही

था। अपनी योग्यता का भरोसा न होने पर भी इन सुयोग्य सज्जनों की योग्यता और विद्वता का मुझे दृढ़ विश्वास है, इस लिए इनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हुआ प्रेमपूर्वक इनके निर्दिष्ट बहुमानास्पद सभापति के आसन को सादर स्वीकार कर इन महानुभावों को मैं आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ।

"हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन" इस सुप्रतिष्ठित नाम का पहला शब्द "हिन्दी" है। इस देश में मुसलमान बादशाहों का राज्याधिकार होने के पहले प्राच्य-देश निवासी और विशेष कर पारस्य देश के अधिवासी विदेशियों में, 'हिन्द' या 'हिन्दुस्तान' नाम से ही हमारा भारतवर्ष सुपरिचित था। 'हिन्द' अर्थात् भारतवर्ष के निवासियों को 'हिन्दू' और इस देश की सबसे प्रधान भाषा को 'हिन्दवी' वा 'हिन्दी' भी इस कारण से कहते हैं। भारतवर्ष की वर्तमान पश्चिम सीमा सिन्धु नद या अटक तक मानी जाती है। नदियों से भी देश विशेष के नाम की उत्पत्ति का सम्बन्ध देखने में आता है। पञ्चनद प्रदेश, अति प्राचीन पुराणों में (पञ्जाब की) सुप्रसिद्ध पाँचों नदियों के कारण से ही कहाया। उस नाम का ही अनुवाद मुसलमानों ने 'पञ्जाब' शब्द में पूर्णतया किया है। यह कोई आश्चर्य्य की अथवा नयी बात नहीं है कि पारस्य देश निवासी, भारतवर्ष के उस सिन्धु नद के नाम से ही इस देश का नामकरण कर बैठे हों। फ़ारसी आदि भाषाओं में 'स' अक्षर का उच्चारण "ह" होता है। इसलिए सिन्धु नद को "हिन्दू" कहना उन देशवासियों को स्वाभाविक था। और सिन्धु नद के नामानुसार हिन्दुस्तान नामकरण इस देश का उन विदेशियों ने किया हो, तो सम्भव है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं

कि जिस समय मुसलमानों ने भारतवर्ष का नाम हिन्दुस्तान और यहां के निवासियों का भी 'हिन्दू' रक्खा था, उस समय तक मुसलमानों के चरण, इस पवित्र भारत भूमि पर नहीं आये थे। ग्रीक आदि अन्य भाषा-भाषियों ने भी इनके ही अनुकरण पर सिंधु को "इराडुस" कहा और सम्भव है कि उच्चारणभेद और इस अनुकरण के अनुसार ही विलायत की सर्वप्रधान लेटिन भाषा तक में भारतवर्ष का नाम "इण्डिया" कहा गया।

फ़ारसी भाषा में "हिन्दू" शब्द का अर्थ काले रंग का वाचक है, इसलिए ही हिन्दूकुश नाम के पहाड़ को हिन्दू कोह अर्थात् काला पर्वत कहते हैं। पहले अफ्रिका के रहनेवाले काफ़िरों को मुसलमानों ने गुलाम खरीदना आरम्भ किया था। इन काफ़िरों वा हबशियों से बढ़ कर काला रंग पृथिवी पर दूसरी किसी जाति के मनुष्य का भी नहीं है। इस निमित्त ही इन काले कलूटे गुलामों का नाम ही फ़ारसी भाषा में 'हिन्दू' पड़ा। समय के फेर से सबसे पहला हिन्दुस्तान का बादशाह कुतुबुद्दीन भी गुलाम वंश का ही यहां भेजा गया। इसलिए भी सम्भव है कि अधिकांश सिन्धु प्रदेश निवासियों का काला रंग और विशेष कर गुलाम बादशाह की अधीन प्रजा होने के कारण, उस समय के विजयी मुसलमानों ने इस देश का घृणापूर्वक 'हिन्दुस्तान' और यहां के निवासी गुलाम बादशाह की अधीन प्रजा का भी गुलाम वा 'हिन्दू' नामकरण किया हो। इसमें सन्देह नहीं कि पारसी भाषा में गुलाम वा काले रंग के अर्थ में प्रयुक्त होने के सिवा, 'हिन्दू' शब्द का गौरव वाचक अर्थ से सम्बन्धमात्र नहीं है। इधर प्राचीन शास्त्रों

में वेद वा मनु आदि स्मृति, पुराण, उपपुराण आदि ग्रन्थों में उक्त "हिन्दू" शब्द का कहीं भी नामोल्लेख नहीं दीखता केवल मेरुतन्त्र में कुछ वचन ऐसे देखने में आते हैं कि जिनमें व्युत्पत्ति सहित 'हिन्दू' शब्द प्रयुक्त है। यहां मेरुतन्त्र से उद्धृत कर उन वचनों का दिखाना अनुचित न होगा।

"पश्चिमाम्नाय मन्त्रास्तु प्रोक्ताः पारस्यभाषया।
अष्टोत्तरशताशीतिर्येषां संसाधनात्कलौ ॥
पञ्चखाना सप्तमीरा: नवसाहा महाबलाः।
हिन्दुधर्म्म प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः ॥
हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।
पूर्वाम्नाये नवशतं षड़शीति प्रकीर्त्तिता ॥
फिरङ्गभाषया मन्त्रा येषां संसाधनात्कलौ।
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिताः ॥
इङ्गरेजा नवषट्पञ्च लण्डजाश्चापि भाविनः।"

इस में हीन अर्थात् निकृष्ट आचार व्यवहार को दूषित करने वाले ही हिन्दू नाम से अभिहित किये गये हैं, और हिन्दू शब्द की वैसी व्युत्पत्ति ही इन वचनों में प्रत्यक्ष है। मेरुतन्त्र में जहाँ भविष्य की उक्ति है, उस प्रसङ्ग के ही ये वचन हैं। तन्त्र और पुराणों में हमारे त्रिकालदर्शी पूज्यपाद ऋषियों ने होनहार सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है और इस समय उनकी भविष्य उक्तियों का मिलान भी पूरा पूरा होना दिख रहा है। इसलिए ऐसी भविष्योक्तियों को देख उन ग्रंथों को आधुनिक मनाना तो किसी प्रकार से भी युक्तियुक्त और ठीक नहीं है।

परन्तु इसके साथ ही यह भी विशेष विचारने की बात है कि ऐसे स्थलों में कुछ लोगों ने कहीं कहीं चतुरता पूर्वक स्वरचित प्रक्षिप्तांश के मिलाने में भी त्रुटि नहीं की है। प्रायशः रचना की शैली पर विचार करने से वैसी धूर्तता का सटीक पता लगा लेना विद्वानों के लिए कठिन नहीं है। विशेषकर मेरुतन्त्र के इन उद्धृत वचनों में पारस्य भाषा और फिरङ्ग भाषा के जिन मन्त्रों का कथन है, उन दोनों भाषाओं के अभिज्ञ पण्डितों से पूछने पर भी प्रथम तो उनका कहीं पता नहीं लगता, दूसरे इन श्लोकों की रचना भी स्पष्ट रूप से कह रही है कि किसी आधुनिक सुचतुर बङ्गदेशीय संस्कृतज्ञ पण्डित की ही यह करतूत है। इसके शब्दविन्यास मात्र पर ध्यान देने से ही प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं रहती। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में भी मेरुतन्त्र के वचनों को उद्धृत नहीं किया है। इन बातों को देख कर कहना पड़ता है कि 'हिन्दू' नाम पुराना होता, तो श्रुति स्मृति पुराणादि प्रामाणिक ग्रन्थों में उसका प्रयोग भी देखने में अवश्य आता। परन्तु हमारे श्रुति स्मृति पुराणादि परम प्राचीन सनातन मान्य प्रामाणिक ग्रन्थों में कहीं 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं है। यहाँ तक कि मुसलमान बादशाहों के राज्याधिकार के अनन्तर जो ग्रन्थ रचे गये उनमें भी उक्त शब्द का प्रयोग विरले ही देखने में आता है। यद्यपि हिन्दू शब्द का प्रयोग वर्णाश्रम धर्मावलम्बी भारतवर्ष निवासियों के लिए उस समय होने लगा था सही, परन्तु सुस्पष्टरूप से देश भाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रचार तो तब तक भी नहीं होने पाया था। केवल 'भाषा' शब्द का ही विशेष चलन था। यहाँ तक कि

गुसांईं तुलसीदास जी ने भी 'भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति' और "जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन हरिचरित बखाने।" आदि छन्दों में 'भाषा' और 'प्राकृत' शब्दों का ही प्रयोग किया, 'हिन्दी' वा हिन्दी भाषा का नहीं। 'हिन्दूपति' 'हिन्दूसूर्य्य' आदि गौरवान्वित उपाधियों में, सनातनवेदमूलक धर्म्म कर्म्म के पालने वाली भारतीय प्रजा के धर्म्मरक्षक और समाज की मर्य्यादा के स्थापक उदयपुर के प्रतापी राजकुल का वर्णाश्रम-धर्म-पालन-व्रत और वीरत्व पूरी रीति से प्रकाशित किया जाता था। भारतीय प्रजा ने हिन्दू शब्द का दास वा काले रङ्ग वाला घृणार्ह फ़ारसी भाषा का अर्थ कभी नहीं स्वीकार किया था। उधर अग्निउपासक पारसियों की अति पुरानी धर्म्मपुस्तक 'वास्ता' में भी 'सप्तसिंधु' प्रदेश को 'हफ़्तहिन्दू' ही लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में इस 'हिन्दू' शब्द का प्रचलन मुसलमान बादशाहों के राज्य के समय से होने पर भी यह शब्द आधुनिक नहीं, विशेष पुराना है। आदि अर्थ भी इस का देशवाचक ही था, और सकार हकार के परिवर्त्तन से ही इस हिन्दू शब्द की उत्पत्ति भी उन विदेशीय भाषाओं में सब से पहले हुई थी। एक भाषा में विशेष चलित शब्द का किसी दूसरी भाषा में भी क्रम से प्रचलित हो जाना, अथवा अर्थ बदल कर दूसरे ही अर्थ में प्रयुक्त होना स्वाभाविक है।

परन्तु शब्द शास्त्र का विचार बड़ा ही सुकठिन गहन और जटिल है। आज पृथ्वी के अनेकों सुसभ्य देशों में इस विचार की विशेष धूम 'फाइलालोजी' आदि विविध नये प्रसंगों से होती है, परन्तु इस विद्या की जैसी उन्नति हमारे प्रातःस्मरणीय

भारतीय विद्वानों ने अति प्राचीन काल से ही की हुई है, उसकी तुलना में संसार की ऐसी एक भी भाषा नहीं दिखती कि जो भारतीय ऋषियों की प्यारी संस्कृत भाषा की किसी अंश में भी बराबरी कर सके ! हमारे श्रद्धेय मीमांसक, निरुक्तकार, और वैय्याकरणों ने आज से सहस्रों वर्ष पहले ही विचारपूर्वक इन गंभीर विषयों की ऐसी सुन्दर मीमांसा अपने अपने शास्त्रीय अधिकारानुसार, तर्क में प्रवृत्त होकर की थी, कि उनकी उस परमोत्तम तर्कशैली और मीमांसा को देख कर आज के सभ्यताभिमानी पण्डितकुलतिलकों को दाँतों उँगली काटनी पड़ती है। जिस समय अविद्या के घोर अंधकार में पड़े अन्य देशवासी, पशुओं जैसी जंगली दशा में अपना असभ्य जीवन अतिवाहित करने के सिवा, स्वप्न में भी इन विषयों का ध्यान नहीं कर सकते थे, उस समय भी भारतवर्ष में ऊँची श्रेणी के दार्शनिक और व्याकरण शास्त्र के जटिल से जटिल विषयों की, अनुपम योग्यतापूर्वक मीमांसा करने वाले महर्षियों की गिनती कुछ कम नहीं थी। वैय्याकरणकेसरी महर्षि पाणिनि का समय, अङ्गरेज़ पुरातत्वान्वेषी सुपण्डितों की विचार शैली के अनुसार भी प्रायः आज से अनुमान तीन सहस्र वर्ष पहले का ठहरता है। परन्तु महर्षि पाणिनि से भी सहस्रों वर्ष पहले, इन्द्र, चन्द्र, काशकृष्ण, आपिशाली, भरद्वाज, भागुरी, औपमन्यव, गालव, शाकल्य, शाकटायन, प्राचीन निरुक्ताचार्य्य गार्ग्य, जैमिनी, यास्क, आदि महर्षि शब्दशास्त्र के एक से एक चढ़ बढ़ कर विद्वान् इस पुण्यभूमि भारत में अवतीर्ण हो चुके हैं। केवल व्याकरण की व्युत्पत्तिमात्र से ही शब्दार्थ का नित्य और अनन्य सम्बन्ध नहीं है। क्रम से

शब्दों का अर्थ, रूपान्तर धारण कर अपनी व्यापकता को बढ़ाता कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है इसका यथार्थ ज्ञान इन नीचे के लिखे उदाहरणों के भली भाँति विचारने के बिना सब लोगों को नहीं हो सकेगा। साथ ही इस देश के अति पुराने शब्द-शास्त्रवेत्ता विद्वानों की विचार शक्ति अभिज्ञता और तर्क शैली का परिचय भी, अभिनव पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए हिन्दी हितैषियों को इस समय स्थूल रूप से करा देना परम प्रयोजनीय है।

स्मृति और पुराणादि संस्कृत ग्रन्थों में एक शब्द 'पञ्चाम्र' आता है। जैसे—"पञ्चाम्र रोपी नरकन्नयाति।" पञ्चाम्र का बोने वाला नरक नहीं भोगता। व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार इस 'पञ्चाम्र' शब्द का अर्थ आम के पाँच वृक्ष ही माना जायगा। परन्तु यथार्थ में आम के पेड़ का सम्बन्ध मात्र इस शब्द से नहीं है। बड़, पीपल, नीम, अनार और जाति पुष्प के इन पाँच वृक्षों को शास्त्रोक्त विधि से एकत्र बोते हैं। इस विधि से उक्त पांचों वृक्ष एक साथ बोये जाने पर 'पञ्चाम्र' कहाते हैं; इनमें आम्र वृक्ष लवलेश मात्र न होने पर भी नाम इनका पञ्चाम्र ही प्रसिद्ध है। व्याकरण की व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ की संगति नहीं बैठ सकती है। इस पर उपस्थित सूक्ष्मदर्शी विद्वान् यह आपत्ति खड़ी कर सकते हैं कि "जिस समय पाणिनीय व्याकरण बना था उस समय, इस अर्थ में पञ्चाम्र शब्द का प्रयोग ही नहीं होता था पीछे से आधुनिक पुराण ग्रन्थों में इस अर्थ में इस नवीन शब्द की प्रवृत्ति हुई है। इस लिए ही महर्षि पाणिनि ने इस अर्थ से सम्बन्ध रखने वाली व्युत्पत्ति नहीं की।" यद्यपि इस आपत्ति का खण्डन हो सकता

है परन्तु वैसा न कर, यहाँ इस आपत्ति को मानने पर भी, दूसरे उदाहरण से सहज में प्रयोजन सिद्ध हो सकता है। अच्छा, 'षोड़शी' शब्द को ही लीजिये। व्याकरणानुसार सोलह संख्या की पूर्ति जिसमें हो वह ही इस शब्द का अर्थ है। परन्तु सुरसिक कवि, बाला स्त्री की मन लुभावनी हिय हुलसावनी सुन्दर सलोनी छवि की अनोखी छटा का मानस प्रत्यक्ष इस शब्द के श्रवण मात्र से करेंगे। साथ ही कर्म्म-काण्डी ब्राह्मणों को इस शब्द से पिण्डदान का विधान ही प्रत्यक्ष होने लगेगा। उधर वैदिक कर्म्मठ, श्रौतयाग में प्रयुक्त सोमरस के पात्र विशेष की ही प्रत्यक्ष मूर्ति इस शब्द में देख कर पुलकित होंगे। यहाँ ऊपर की कही आपत्ति भी नहीं आड़े आ सकेगी, क्योंकि पाणिनि के समय के भी सहस्रों वर्ष पहले यज्ञों का विधान इस देश में पूर्ण रूप से प्रचलित था। महर्षि पाणिनि को अपनी बाल्यावस्था से ही भली भाँति सुपरिचित यजुर्वेदीय "अतिरात्रे षोड़शी गृह्णाति नाति रात्रे षोड़शीं गृह्णाति" इत्यादि की पुनः पुनः आवृत्ति अनेकों वेर अवश्य नित्य करनी ही पड़ी थी। सुतरां इस 'षोड़शी' शब्द को पाणिनि का अपरिचित, वा 'यज्ञपात्र' अर्थ में उनके पीछे प्रयुक्त कहने का अधिकार तो किसी को नहीं प्राप्त हो सकता है। यहाँ स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक पाणिनि क्या किसी वैय्याकरण के किये भी इस शब्द की व्युत्पत्ति मात्र से यज्ञ पात्र के समीचीन अर्थ का ही बोध कभी न हो सकेगा। इसलिए मानना पड़ेगा कि शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ही सब वस्तुओं का नामकरण नहीं किया गया है। पूर्वाचार्य्यों का भी इस में मतभेद है और सर्ववादी सम्मत सिद्धान्त भी

यह नहीं है। व्युत्पत्ति से आंशिक नाममात्र का सम्बन्ध होने पर भी नाम की प्रवृत्ति होती दिखती है। कहीं कहीं तो व्युत्पत्ति-सिद्ध अर्थ का सर्वथा त्याग भी हुआ और होता है। क्रम से भली भांति इस विषय को समझाने के लिए यहाँ यह मूल विषय लिखना अनुचित न होगा कि—नैयायिक आचार्य्यों ने भी यौगिक, रूढ़, योगरूढ़, रूढ़यौगिक अथवा यौगिक रूढ़ इन चार ही प्रकार के नाम मुख्य माने हैं। इनके सिवाय एक प्रकार का नाम, लक्षक भी कहाता है। शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ वा अवयवार्थ अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के अर्थानुसार जो नाम रक्खा जाता है उसे यौगिक कहते हैं। जैसे पाचक वा रसोइया इत्यादि। संस्कृत में पच् धातु और ण्वुण, वुण वा अकन् प्रत्यय से पाचक शब्द सिद्ध हुआ है। यहाँ पच् धातु का अर्थ पाक और उक्त प्रत्यय का अर्थ करने वाला है। इससे पाचक शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है, पाक करने वाला। संसार में पाचक शब्द की प्रवृत्ति उक्त व्युत्पत्ति के अर्थानुसार हुई है इसलिए ही पाककर्त्ता का पाचक नाम यौगिक है। संकेत वाले नाम ही रूढ़ हैं। प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ से जिस नाम की प्रवृति नहीं होती, समुदाय के अर्थ से प्रवृत्ति होती है, उसे संकेतयुक्त या रूढ़ शब्द कहते हैं। जैसे गो शब्द सं० गम् धातु और डोस् प्रत्यय से बनता है। गम् धातु का अर्थ चाल वा गमन है और डोस् प्रत्यय का अर्थ है उस कार्य्य का कर्त्ता, गो शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हुआ चलने वाला। परन्तु इस अर्थ से ही गो नाम की प्रवृत्ति हुई नहीं दिखती है। क्योंकि इस अर्थ से गो संज्ञा की प्रवृत्ति हुई होती तो गमनशील मनुष्य वा अन्य जीवों में भी गो शब्द

की चरितार्थता किस के रोके रुक सकती ? साथ ही शयना-वस्था में वा बैठ जाने पर गमन क्रिया के अभाव से इस नाम से ही प्रसिद्ध गो पशु में भी गो शब्द का प्रयोग सर्वथा अशुद्ध ही होता।

ऊपर के दिखाये इन दोनों प्रकार के दोषों को शास्त्रों में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति शब्द का अर्थ है संबन्ध। अतिव्याप्ति अतिशय अथवा अतिरिक्त सम्बन्ध। संबंध योग्य स्थल का उलङ्घन कर अर्थात् जिससे सम्बन्ध होना उचित था उसके सिवाय अन्य के साथ सम्बन्ध होने से ही अतिव्याप्ति हो जाती है। यहाँ सम्बन्धयोग्य के उल्लङ्घन वा अतिक्रम से ऐसा न समझना चाहिये कि उससे सर्वथा सम्बन्ध ही छूट जाता हो, प्रयोजन यह है कि संबंधयोग्य स्थल से सम्बन्ध बना रहने पर भी संबंध न होने योग्य स्थल से अन्यत्र सम्बन्ध होते ही अतिव्याप्ति दोष आ चिमटता है। उक्त उदाहरण में चलने वाली गौ में व्युत्पत्ति अनुसार गो शब्द की प्रवृत्ति होने में अटक नहीं पड़ती है, परन्तु गमनशील मनुष्यादि अन्य जीवों में भी उक्त व्युत्पत्ति अनुसार तो बिना रोक टोक के गो शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। गतिशील मनुष्यादि गो शब्द के वाचक और योग्यस्थल नहीं हैं। ऐसे अयोग्यस्थलों में भी सम्बन्ध होने से अतिव्याप्ति दोष लगा। संबंध न रहने को ही अव्याप्ति कहते हैं। परन्तु किसी अर्थ से भी सम्बन्ध शब्द का न रहना असम्भव है। इसलिये जहां सम्बन्ध रहना चाहिये वहाँ न रहने से ही असम्बन्ध वा असम्बन्ध का अभाव समझना होगा। सोने, लेटने, और बैठने पर 'गो' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ, गो पशु में यद्यपि किसी प्रकार

से भी चरितार्थ नहीं होता तथापि गो पशु उस अवस्था में भी गो पशु ही है इसमें सन्देह नहीं। सोने और बैठने की अवस्था में भी गो शब्द की गमनशीलता, अर्थात् व्युत्पत्ति वाले अर्थ की सङ्गति ठीक ठीक बैठ सकती तो दोष स्पर्श नहीं करता। परन्तु उस अवस्था में व्युत्पत्ति के अर्थ की चरितार्थता गो शब्द में नहीं दिखती, अर्थात् अर्थ का सम्बन्ध उस समय गोशब्द से नहीं स्थिर रह सकता इसलिये यहाँ अव्याप्ति-दोष अपरिहार्य्य हो जाता है। गो शब्द को यौगिक मानने से अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों प्रकार के दोषों से पीछा छुड़ाना असम्भव है, इसलिये गो शब्द को यौगिक न समझ कर रूढ़ ही माना है।

परन्तु यहाँ इस आपत्ति का दुहराना सर्वथा असंगत न होगा कि जब पाचक को इसलिये ही पाचक कहना बन सकता है कि पाक करने की योग्यता उसमें पाक न करने के समय भी वर्तमान रहती है, तो फिर सोने या बैठने की दशा में भी चलने फिरने की योग्यता गो पशु में अवश्य वर्तमान माननी पड़ेगी। इसलिये गो शब्द को यौगिक मान लेने पर भी अव्याप्ति दोष नहीं लगेगा। इसके उत्तर में इतना कहना ही बहुत होगा कि उक्त रीति से जैसे तैसे अव्याप्ति से पला छुड़ाने की चेष्टा करने पर भी अतिव्याप्ति-दोष का परिहार किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता, इसलिये गो शब्द को अवश्य ही रूढ़ मानना पड़ेगा।

जिस अर्थ के अनुसार शब्द की व्युत्पत्ति का रूप बनता है, या शब्द की व्युत्पत्ति के सहारे जिस अर्थ की प्राप्ति होती है, उसे व्युत्पत्तिनिमित्त, और जिस अर्थ के अनुसार शब्द

की प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग होता है वा हुआ है, उसे प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं। गम् धातु और डोस् प्रत्यय के अवयवार्थ से गो शब्द की प्रवृत्ति कभी नहीं हुई थी, यह तो केवल व्युत्पत्ति निमित्त मात्र है। गो जाति वा गोत्वजातिविशिष्ट में गो शब्द का प्रयोग होता है, इस लिए उस अर्थ में ही गो शब्द का संकेत स्वीकार करना पड़ता है—यह संकेत गम् धातु और डोस् प्रत्ययगत नहीं है, इसले गो शब्द रूढ़ है। परन्तु पाचक व रसोइया शब्द रूढ़ नहीं, यौगिक ही है। क्योंकि पाचक इस वर्ण समुदाय का किसी अर्थ विशेष में संकेत नहीं है। केवल अवयव संकेत अर्थात् पच् धातु और वुण् प्रत्यय के अर्थ से ही पाककर्ता अर्थ की जानकारी होती है। समुदाय के संकेत स्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिखता। इस-लिए ही 'पाचक' शब्द को यौगिक मानते हैं। यथार्थ में यह शब्द रूढ़ नहीं है।

उक्त संकेत भी दो प्रकार के हैं। आधुनिक और सनातन। जो संकेत अनादि काल से चला आ रहा है, वह नित्य और सनातन है। परन्तु जो संकेत वैसा नहीं अर्थात् बीच में काल-विशेष में जिसकी प्रवृत्ति हुई है, उसे आधुनिक कहते हैं। अनादि काल से प्रयुक्त सनातन संकेत का ही दूसरा नाम शक्ति, और आधुनिक का परिभाषा है। सनातनी संकेत वा शक्ति अनुसार जो शब्द जिस अर्थ का वाचक है, अनादि काल से उस शब्द का उस अर्थ में ही प्रयोग भी चला आ रहा है। परन्तु आधुनिक संकेत वा परिभाषा से शब्द का जो अर्थ उत्पन्न होता है, उस अर्थ में उस शब्द का अनादि काल से प्रयोग न तो होता ही है और न कभी हो ही सकता है; क्योंकि

आधुनिक संकेत वा परिभाषा व्यक्ति-विशेष की इच्छा और कल्पना से ही प्रचलित हुई है। इस लिए परिभाषा की सृष्टि होने के पहिले पारिभाषिक अर्थ का परिज्ञान, प्रचलन अथवा अर्थ-बोध सर्वथा असम्भव था।

योगरूढ़ शब्द का अवयवार्थ और समुदायार्थ आपस में समन्वित होता है। पंकज वा मोहनभोग शब्द का अवयवार्थ 'पंक में उत्पन्न' तथा 'मोहन अर्थात् श्रीकृष्ण का भोग्य' होने पर भी पंक में उत्पन्न कुमोदनी वा दूसरे किसी फूल का, तथा श्रीकृष्ण जी के आहारीय मोदक आदि अन्य पदार्थों का बोध नहीं कराता, केवल कमल और हलवे का ही वाचक है। इस लिए स्पष्ट है कि अवयवार्थ और समुदायार्थ इन दोनों का मेल योगरूढ़ शब्दों में वर्तमान रहता है। न्यायाचार्य्यों का ही यह मत है, परन्तु मीमांसकों का इसमें मतभेद है। पर रूढ़ यौगिकों के अवयवार्थ से समुदायार्थ का मेल कभी नहीं होता।

सच पूछो तो, रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति अनावश्यक है यह कहना ही अनुचित है। वेदों में भी रूढ़ शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई गई है। घृत का एक सर्पि नाम भी है। यह सर्पि नाम घी का रूढ़ है, तथापि वेद में गमनार्थ सृप् धातु से इसकी व्युत्पत्ति की गई। घी टिघल कर ही अग्नि में होमा जाता है, घी का स्वभाव ही सर्पित-सरित वा टिघल कर फैल जाने का दिखता है। इस लिए रूढ़ सर्पिस् शब्द की व्युत्पत्ति का सम्बन्ध गमनार्थक सृप् धातु से यथार्थ ही है। धातु प्रत्यय योग से रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति के सैकड़ों उदाहरण, वेद से प्रारंभ कर, सब व्याकरणों के उणादि प्रकरणों तक भरे पड़े

हैं। इसलिए "सब नाम धातुज हैं" शाकटायन का यह सिद्धा-न्त वेदसम्मत, व्याकरणानुसारी, अभ्रान्त, आदरणीय और सर्वथा समीचीन है।

निरुक्ताचार्य्य यास्क ऋषि ने शब्द निर्वाचन के जो नियम बनाये हैं, तथा पूर्वाचार्य्यों ने भी अपार शब्दरत्नाकर मन्थन कर जिन दुर्लभ अनमोल रत्नों का उद्धार किया है, उनके दर्शन और मनन किये विना शब्दशास्त्र का सम्यक् विचार हो ही नहीं सकता। विद्वानों के आगे उनका पुनरुल्लेख, वाचा-लता प्रदर्शन मात्र है। परन्तु प्रसंगवश इतना समय इस चर्चा के निमित्त अगत्या लेना ही पड़ा। आशा है कि सुविवेचक अपनी उदारता और विषय-गौरव का विवेचन कर क्षमा ही करेंगे। शब्द की शक्ति वा सनातन सम्बन्ध का विचार करने के साथ ही यह भी उत्तम रीति से विचारणीय है कि जिस मूल अर्थ के सम्बन्ध से नाम की सृष्टि होती है, कालान्तर में उस मूल अर्थ से विशेष अन्तर भी पड़ने लगता है, और उत्तरोत्तर उस शब्द की व्यापकशक्ति अपना अधिकार बढ़ाती है। 'उदार' शब्द के मूल अर्थ पर ध्यान देने से सहज में इसको सब लोग समझ सकते हैं। 'आर' शब्द का अर्थ है कोड़े का प्रान्त वा अग्रभाग। सारथी वा हाँकने वाले के हाथ के उत्तोलित कोड़े का प्रान्त भाग शरीर को स्पर्श भी न करने पावे, और पहिले से ही जो सुशील घोड़े, रथ वा बहल हाँकने-वाले के अभिप्रायानुसार चलने लगते हैं उनका ही नाम 'उदार' है। क्योंकि 'आर' अर्थात् कोड़े वा चाबुक का प्रान्त उत्तोलित होकर भी पीठ को छू नहीं पाया और इतने में ही सारथी का अभिप्राय समझ तदनुसार चलने वाले घोड़े आदि

पशु ही 'उदार' शब्द के सहज अर्थ-युक्त माने गये, परन्तु मानसिक अभिप्राय समझ कर काम करने के इस अर्थ के सामान्य सादृश्य से ही जो दाता बिना प्रार्थना के प्रार्थी वा याचक का अभिप्राय आप से समझ कर मांगने के पहिले ही अभीष्ट वस्तु देता है, उसे भी उदार कहते हैं। निरुक्त ग्रन्थों में प्रवीण आदि ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। अब यह तो निस्सन्दिग्ध रूप से भली भांति सिद्ध हुआ कि रूढ़ शब्दों की भी अर्थानुसार व्युत्पत्ति, वेद और व्याकरणादि शास्त्र सम्मत है, और अर्थ की प्रवृत्ति शब्दों के स्वभावानुकूल विचित्र शक्ति वाली होती है। इसलिए एक अंशमात्र का योग वा सम्बन्ध एक ही नाम को विविध अर्थान्तरों में अनेकों वस्तुओं का वाचक बनाने में समर्थ है। शब्द की स्वाभाविक शक्ति पर बल प्रयोग करने की सामर्थ्य किसी की नहीं है इत्यादि इत्यादि।

'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति, सिन्धु नद प्रान्तवर्ती महाप्रदेश वा भारतवर्ष के नामकरण सम्बन्ध में यद्यपि नदी के नाम से ही स और ह अक्षर के परिवर्त्तन से हुई, और यह शब्द भी बहुत दिनों पहिले से विदेशीय भाषाओं में ही प्रचलित था, विशेष कर फारसी भाषा में इसका अर्थ भी कृष्णवर्ण वा क्रीतदास वाचक ही दिखता है, तथापि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इधर सैकड़ों वर्षों से इसका चलन भारतवर्ष में हो गया है, और जिस अर्थ में फारसी भाषा में यह शब्द व्यवहृत है उस अर्थ से तिल मात्र सम्बन्ध भी इस समय इसका हमारी भाषा में नहीं है। भारतवर्षवासी गौरव के साथ अपने परम पवित्र धर्म्म को "हिन्दू धर्म्म" और उसके मानने वाले भारतीय-जन समुदाय को भी धर्म्म सम्बन्ध से परम गौरवान्वित 'हिन्दू'

नाम से ही साभिमान परिचित कराते हैं। एक ही शब्द भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न अर्थों का बोधक होता है। दूर देशों में तो इस अन्तर का ऐसा विशेष आधिक्य होना सम्भव है कि, जिसकी कल्पना भी साधारण मनुष्यों से नहीं की जा सकेगी। परन्तु उदाहरण स्वरूप भारतवर्ष की ही प्रचलित भाषाओं में अनेकों शब्द ऐसे प्रचलित हैं, जिनके अर्थ परस्पर विशेष विभिन्नता दरसाने के साथ ही अचरज में डाल देते हैं। बङ्ग-भाषा में छाते को विशेष कर "छाती" ही कहते हैं। पश्चिमोत्तर प्रान्त के मनुष्य बङ्गालियों के इस "छाती" शब्द से कभी छाते का अर्थ नहीं समझ सकते, प्रत्युत सीने और स्तनों के अर्थ का ही ज्ञान उनको होता है। वैसे ही भारत की बहुतसी भाषाओं में "बाल" शब्द केशों का वाचक होने पर भी बङ्गालियों के सामने बँगभाषा से अपरिचित मनुष्य के मुख से इस शब्द के निकलते ही घृणा, हास्य और विचित्र कौतुक आ उपस्थित होते हैं। जब एक ही मूल से उत्पन्न भाषाओं की ऐसी दशा एक शब्द के भिन्न अर्थों के कारण प्रत्यक्ष होती है, तब भिन्न मूल से जिन भाषाओं की उत्पत्ति हुई है, उनमें स्वरूपसादृश्य होने पर भी किसी शब्द का अर्थ सम्पूर्ण विपरीत दृष्टिगोचर हो तो, यह आश्चर्य का विषय नहीं है। जिस भाषा के प्रचलित शब्द का विचार जिस समय किया जाता है, उस समय उस भाषा के ही अर्थ सम्बन्ध से उस शब्द का विचार भी होता है और यह रीति सनातन से शिष्टानुमोदित और अभ्रान्त मानी जाती है। हिन्दी में प्रचलित शब्द का विचार करने के समय उस शब्द का जो अर्थ हिन्दी भाषा में प्रचलित है, उस पर पूरी दृष्टि रख कर ही विचारना उचित

है। यह नहीं कि, हिन्दी के प्रचलित शब्द का विचार करने के समय हम अन्य देश की भाषाओं में उस शब्द का क्या अर्थ था वा है, इस झूठे पचड़े को निकाल बैठें और वृथा समय नष्ट करें। हाँ, ऐसे शब्द भी हमारी हिन्दी में प्रचलित हैं सही, जिनका फारसी भाषा का प्रचलित अर्थ भी स्थल विशेष में हमको मानना पड़ता है। परन्तु उसके साथ ही यह बात भी देखने में आती है कि, हमारी हिन्दी के शब्दों में भी उस विदेशी भाषा के अर्थ की सत्ता और स्थिति कहीं कहीं वर्त्तमान दिखती है और काव्य तथा वार्त्तिक में उनके प्रयोग भी प्रचलित देखने में आते हैं। "नीम" शब्द इसका सब से उत्तम उदाहरण है। हिन्दी में निम्ब के वृक्ष को नीम कहते हैं, परन्तु मुसलमान और यवनों के संसर्ग से 'आधे' के अर्थ में भी "नीम" शब्द का प्रयोग होता है। हिन्दी की पहेलियों में भी इसका परिचय मिलता है। एक पुरानी पहेली है, "इक तरुवर अरु आधो नाम। अर्थ करो या छोड़ो गाम॥" इसमें नीम शब्द के उक्त दोनों ही अर्थ सन्निविष्ट हैं। केवल हिन्दी में ही नहीं, इस विदेशी शब्द ने "नेम" रूप से संस्कृत भाषा में भी 'आधे' अर्थ की वाचकता से अपना अधिकार जमा लिया है। पिक, तामरस और सत आदि शब्द संस्कृत में आर्य्यव्यवहारप्रसिद्ध अर्थ के अभाव से म्लेच्छ भाषा के प्रसिद्ध अर्थानुसार ही क्रम से कोकिल, कमल और सौ छेदों वाले लकड़ी के गोल पात्र के अर्थ ही देते हैं। परन्तु पिकादि शब्दों का म्लेच्छ भाषा प्रसिद्ध अर्थ लिया गया है, इसलिये कोई ऐसा न समझे कि, वे शब्द ही आधुनिक हैं, वा म्लेच्छ भाषा से ही लिये गये हैं। क्योंकि यदि शब्द मनुष्य के ही बनाये होते, तो उक्त

अवस्था में ऐसी शङ्का का करना भी ठीक होता । परन्तु शब्दों की वास्तविक अवस्था यथार्थ में वैसी नहीं है । मीमांसा दर्शन के मतःसे शब्द राशिका बनानेवाला कोई मनुष्य वा अन्य जीव-विशेष नहीं है । यथार्थ में शब्द नित्य हैं; मनुष्य केवल उनको समय समय पर प्रकाशित कर वर्त्तते भर हैं । मीमांसा दर्शन में शब्दों की नित्यता प्रबल युक्तियों से समर्थित हुई हैं । जब शब्दों का नित्य होना हमारे परम माननीय मीमांसक आर्य ऋषियों का सबसे प्राचीन और समीचीन सिद्धांत है, तब भाषान्तर से शब्द ग्रहण की आशङ्का का तो सम्भव ही नहीं हो सकता है । विशेष इस समय 'फ़ोनोग्राफ' यन्त्र ने शब्द की इस नित्यता को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है । इसलिए जल, वायु और अग्नि आदि के समान नित्य शब्द भी सर्व-साधारण की यथेच्छ वर्त्तने योग्य साधारण सम्पत्ति है । जाति विशेष में शब्द विशेष के प्रयोग करने की विरलता, अधिकाई वा अभाव उन उन जातियों की परिवर्त्तित अवस्था और वाक्य-यन्त्र की योग्यता के अनुसार ही सङ्घटित हुआ करते हैं । जिस अर्थ में जिस जाति में शब्द का बहुत प्रचार और व्यवहार है, उस जाति के लिये उस शब्द का वह अर्थ ही प्रसिद्ध माना जाता है, और दूसरी जातियों के लिये अप्रसिद्ध, प्रभेद केवल इतना ही है । व्यवहारबाहुल्य ही अर्थ की प्रसिद्धि का प्रधान कारण है । व्यवहार-विरलता ही सङ्केत वा शक्ति के भूल जाने का मूल कारण है । और वैसी दशा के उपस्थित होने पर ही भाषा से शब्दों का समय समय पर अन्तर्धान और अभाव भी होता है ।

इसलिये हिन्दी भाषा के प्रचलित इस "हिन्दू" शब्द को

अब किसी अन्य भाषा का मानना भी युक्ति संगत नहीं कहा जासकता और साथ ही इसके, जिस अर्थ में इसका प्रयोग इस भाषा में नहीं होता, कष्ट-कल्पना से फारसी के उस काले वा गुलामी के अर्थ को धींगाधींगी इसके साथ जोड़ने की वृथा चेष्टा भी न करनी चाहिए। विशेष कर ऐसी दशा में कि, जब इसके प्रचलित अर्थानुसार मेरुतन्त्र में इसकी ठीक ठीक व्युत्पत्ति भी दिखा दी गयी है, तो अप्रचलित अर्थ की कष्ट-कल्पना की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। शब्दार्थ के निर्णायक शास्त्रों में निरुक्त का मत ही सर्वोत्तम माना जाता है। सुतराम् उसके अनुसार जब हमें प्रचलित अर्थ की व्युत्पत्ति प्राप्त है, तो अन्य अर्थों में बलपूर्वक इस शब्द की दुर्दशा तो कभी न करनी चाहिये। भारतवर्ष के सनातन वर्णाश्रम धर्म्म मानने वाले और उनके उपधर्म्म बनानेवाले तथा जैन आदि यहां के आदिम निवासी आर्य्यजाति के मनुष्यमात्र का वाचक ही यह हिन्दू शब्द सिद्ध होता है। हिन्दुओं की प्रधान भाषा का नाम ही इस कारण से हिन्दी प्रसिद्ध हुआ है।

यह सर्ववादी सम्मत सिद्धान्त है कि, प्रकृति संस्कृत होने पर भी कालान्तर में प्राकृत एक स्वतन्त्र भाषा ही मानी गयी, और आर्ष, अपभ्रंश, पाली, मागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री, द्राविड़ी, नागर आदि अनेकों नामों से भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं की और उनकी उप-भाषाओं की भी कालान्तर में सृष्टि हो गयी। आदि में 'आर्ष' प्राकृत नाम होने पर भी परिवर्तन धर्म्म से कालान्तर में महाराष्ट्री पाली आदि इसके अनेकों नाम उत्पन्न हुए और बदलते भी गये। इसलिए आज उस परम प्राचीन आर्ष प्राकृत का अथवा महाराष्ट्री का सम्बन्ध

छोड़ व्यापकता और राष्ट्रीयता अनुसार भारतव्यापिनी प्रधान प्राकृत का नाम भारतवर्ष वा हिन्दूस्थाननिवासी हिन्दुओं के कारण हिन्दी हो जाना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु दुःख का विषय है क मूल-प्राकृति-भाषा के विचार को अर्थात् जड़ को छोड़ बहुत से लोग पत्तों पर जा टूटे, और जिस वर्त्तमान प्राकृत अथवा हिन्दीभाषा से भ्रष्ट होकर एक नवीन उर्दू की सृष्टि मुसलमानों के संसर्ग से हुई थी उसे मूल भाषा मानने लगे; इस अन्धपरम्परा ने ही अधिकांश लोगों को यहां तक भरमाया और भटकाया कि, कोई कोई तो मुगल सम्राट् शाहजहां के शाहजहानाबाद के बाजार में इसका जन्म हुआ कहकर इसे निरी बाजारी भाषा और उर्दू के नाम से ही परिचित कराने लगे, और कोई कोई अकबर के समय में व्रजभाषा में फारसी, अरबी, तुरकी आदि भाषाओं के मिलने से इस नवीन भाषा की उत्पत्ति मानने लगे। अब यहां प्रश्न केवल इतना ही है कि, इस प्रकार से नयी भाषा की उत्पत्ति माननेवाले महानुभाव विभक्ति प्रत्यय, तद्धित, कृदन्त और क्रिया के तिङन्त रूपों की स्वतन्त्रता और उत्पत्ति के दिखाये बिना किसी प्रकार से भी नवीन भाषा की उत्पत्ति हुई कहने के अधिकारी हो सकते हैं। नयी भाषा की उत्पत्ति माननेवाले या तो क्रिया आदि ऊपर लिखी वस्तुओं को प्रत्यक्ष दिखाने की कृपा करें या स्वीकार कर लें कि नयी कोई भाषा उस समय उत्पन्न नहीं हुई। कारण यह कि अन्य भाषाओं के चाहे कितने ही शब्दों का व्यवहार किसी भाषा में क्यों न किया जाय, परन्तु इससे वह भाषा नयी भाषा कभी नहीं कही जायगी। जब तक स्वतन्त्र क्रिया पद,

विभक्ति प्रत्यय आदि न दिखाये जाँय, तब तक नयी भाषा का अस्तित्व किसी प्रकार से भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वर्गवासी डाकृर राजेन्द्रलाल मित्र ने इस विषय को अपनी "इंडोआर्यन्स" नाम की अङ्गरेजी पुस्तक के द्वितीय भाग में उदाहरण सहित भली भाँति सिद्ध कर दिखाया है।

It would not be elegent to say in English "The bouleversing of the escritoire created quite a sensation in the boudoir of the made moiselle"; but similar sentences are not rare in first class periodicals and novels, and they afford a fair example of what the Urdu is. Their construction and grammar are English and though we may call them gallicisid we cannot say they are French. No French man would for a moment recognise them as such. English rhetoricians condemn them and very justly no doubt, but still they admit them to be English, and quote them as specimens of English. Following them we may call the Urdu persianised Hindi, but still Hindi and not Persian. In the four Mohammadan Bengali books from which extracts are given below the number of foreign words appear to be quite as in the ordinary run of Urdu books and yet those books, are described by their authors to be Bengali, and translated from the Persian ãnd Urdu expressly for the people of Bengal. Virtually their language is as much the Urdu of Bengal or Bengali Urdu as the Urdu is the Hindi Urdu or the Urdu of the North West. If they be taken for distinct languages, I see no reason, why the anglicised Hindi in which Englishmen in India say,

E1	E2	H1
"Bearer	couchka	samne,

E3 E4 H2
almarime pantaloon rakhho."

should not also be called a new language. In it we find no less than four European and only two Hindi words. Similary, the Bengali of our courts, which contains twenty per cent of English words, would have a fair claim to a distinct rank. The language of young Bengal again is a patchwork of English nouns and Bengali verbs and yet nobody has thought of calling it a distinct language. And if they are not distinct languages but corruptions and dialectic varieties of one language, the Urdu can hold no higher position.

बङ्गला या अङ्गरेजी भाषा में भी दूसरी भाषा के शब्द अधिकाई से समय समय पर प्रयुक्त होते हैं। परन्तु किसी भाषा में अन्य भाषा के शब्दों का अधिक प्रयोग ही उसको कभी नवीन भाषा बनाने का अधिकारी नहीं हो सकता। विदेशी शब्दों के अधिक संसर्ग से भाषा का स्वरूप विकृत होने पर भी वह भाषा कभी दूसरी भाषा न कहावेगी। अङ्गरेज़ी ही में फ्रेञ्च भाषा के शब्दों का बाहुल्य होने पर भी वह फ्रेञ्च भाषा न कहा कर अङ्गरेज़ी ही बनी रहेगी। ऐसे ही अन्य भाषाओं को भी समझिये। डाकृर साहब ने जिस पंक्ति को उदाहरण रूप में दरसाया है, उसमें अङ्गरेज़ी के चार शब्द पर हिन्दी के उनसे आधे अर्थात् दो ही हैं, परन्तु इतने पर भी वह पंक्ति विकृत और भ्रष्ट हिन्दी ही कहावेगी, अङ्गरेज़ी कभी नहीं। ऐसे ही फारसी, अरबी और तुरकी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की भरमार से हिन्दी की विकृत और भ्रष्टता मुसलमानों के राज्य में निस्सन्देह विशेष बढ़

गयी थी। केवल भाषा की ही नहीं मुसलमानों के राज्य में तो भारतीय प्रजा के अनेकों वंशों की भी ऐसी ही दुर्दशा बल-पूर्व्वक की गयी थी और भ्रष्ट कर बलपूर्व्वक मुसलमान बनाये हुए उन हिन्दुओं की गिनती आज भी भारतवर्ष के सब प्रान्त में ही लाखों करोड़ों तक पहुंची हुई दिखती है।

मुसलमानों के राज्य के समय भी भिन्न प्रकृति के विविध मुसलमानों ने अपने उद्देश्यानुसार वर्त्ताव हमारी हिन्दी भाषा के साथ किया था। विशुद्ध हिन्दी के सद्गुणों से मोहित हो नवाब खानखाना और अकबर शाह जैसे पराक्रमी और बुद्धि-मान बादशाहों ने भी हिन्दी की परमोत्तम शिक्षा लाभ कर विशुद्ध हिन्दी में ही काव्य रचे हैं। मुसलमानों के रचे होने पर भी उन सरस काव्यों में कहीं एक शब्द भी अरबी, फारसी, तुरकी आदि म्लेच्छ भाषाओं का नहीं आने पाया है। यहाँ रहिमन के एक ही दोहे का दिखाना बस होगा।

घन रहीम जलपङ्क को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥

यद्यपि इस दोहे का बनानेवाला मुसलमान था, परन्तु इसके शब्द-विन्यास से कोई भी यह नहीं कह सकता कि इससे उत्कृष्ट शब्द-विन्यास इस देश के हिन्दू कवि कर सकते थे। रहीम नाम के सिवायँ एक भी शब्द इस दोहे में विदेशी किसी भाषा का नहीं आने पाया है, भाव और रचना चातुर्य भी इसका कुछ साधारण नहीं है। निस्सन्देह इस श्रेणी के मुसलमानों से हमारी प्यारी मातृ-भाषा हिन्दी का बहुत कुछ उपकार ही हुआ था, और भविष्य में होने की आशा भी थी। परन्तु अरबी फारसी पढ़े लिखे मुसलमानों के सिवाय, हिन्दू

भी स्वार्थवश, मातृभाषा से मुंह मोड़ विदेशीय भाषा की शिक्षा में प्रवृत्त हो, उसका क्रम से प्रचार भी करने लगे। अपनी भाषा को भी इन्होंने दुरंगी चितकबरी बनाना आरम्भ किया। साथ ही मुसलमानों ने भी बढ़ कर हाथ मारे और देखते ही देखते पञ्जाब, पश्चिमोत्तर और मध्य-देश के अधिकांश निवासियों में मातृ-भाषा को घृणा की दृष्टि से देखने की कुचाल चल पड़ी।

राज-भाषा होने के कारण अरबी और फारसी पढ़े लिखों का शाही दरबारों में उस समय सम्मान विशेष होता था, इससे अरबी और फारसी पढ़ने का ही चलन प्रतिष्ठित घरानों में भी चला। संस्कृतज्ञ ब्राह्मण पण्डितों का भी अकबर आदि कई एक गुणग्राही बादशाहों ने अच्छा सत्कार किया था और संस्कृत में यावनी भाषा के, ज्योतिष तथा अन्यान्य ग्रन्थों के अनुवाद भी कराये थे। दुर्भाग्यवश संस्कृतज्ञ पण्डित भी भाषा शब्द से चिढ़ कर नाक सिकोड़ते थे; इसके पढ़ने लिखने से तो प्रयोजन ही क्या था? उस पर विशेषता यह हुई कि, टोडरमल ने मुण्डे अक्षरों को नवीन रचना के साथ ही बादशाही दफ़्तरों में भी फारसी भाषा का चलन चलाया। इससे भारतवर्ष भर में अपनी मातृभाषा के यथारीति पढ़ने लिखने की चाल मानों उठ ही गयी। अधिकांश बनिये बक्काल और साधारण पढ़े लिखे लोगों का पाण्डित्य, महाजनी मुण्डे अक्षरों के लिखने पढ़ने तक ही रह गया; अवशिष्ट लोग उर्दू फारसी अथवा कुछ थोड़ी सी संस्कृत की चर्चा में नियुक्त होने लगे। इससे हिन्दी भाषा की उन्नति में विशेष व्यवधान खड़ा हो गया। यदि भारतीय कवि अपनी स्वाभाविक कवित्व

शक्ति का परिचय ऐसे कठिन समय में भी मातृभाषा हिन्दी में न देते, तो न जाने और कहां तक अवनति होती, इसका अनुमान करना भी सहज नहीं है। लिपि-प्रणाली का वैचित्र्य भी इन कारणों से ही उत्पन्न हुआ और हमारी मातृभाषा का यथार्थ स्वरूप और मूल क्या है, इसका ध्यान भी अधिकांश लोगों को न रहा। सजीव भाषा और भारत की साधारण भाषा न होती तो उस अवस्था में इसका लोप हो जाना ही सम्भव था। यहाँ तक दुर्दशा उस समय प्रजा की उपस्थित हो गई थी कि कुशल-पत्र लिखाने की आवश्यकता होने पर अधिकांश मनुष्य मौलवियों के पास जाकर उनसे फारसी अक्षरों में ही पत्र भी लिखाते थे। सुतराम् उर्दू से ही हिन्दी की उत्पत्ति मानने वाले सज्जनों का इस दशा में विशेष क्या दोष दिया जाय ? आनन्द का विषय है कि, अब लोगों की आँखें खुली हैं और शान्तिमय बृटिश-राज्य की शीतल छाया के नीचे विद्या चर्चा का भारतीय प्रजा को कथञ्चित अवसर मिला है। मुद्रा-यन्त्र के कारण दुष्प्राप्य ग्रन्थों का भी सुलभ प्रचार दिन पर दिन बढ़ता जाता है। अब यदि हिन्दी के हितैषी तन, मन, धन से अपनी शक्ति अनुसार परिश्रम करें, तो मातृभाषा की यथोचित उन्नति के साथ ही अपनी और अपने देश की दशा को सहज में सुधार सकते हैं।

किस मूल से हमारी मातृभाषा हिन्दी का उद्गम हुआ, इसके निश्चय करने के साधनों का भी इस समय अभाव नहीं बल्कि सद्भाव ही है। मैं यहाँ विशेष विस्तार से इस विषय को कह कर आप लोगों का समय नहीं लिया चाहता, केवल सङ्केत मात्र का बताना अपना कर्त्तव्य समझता हूं। आकृओं

में अपभ्रंश नाम से जिस प्राकृत का परिचय प्राकृत-भाषा के सुपण्डित वैयाकरण मात्र ने दिया है, उसके गर्भ में ही बीज-रूप से पञ्जाबी भाषा और हमारी वर्तमान हिन्दी का अस्तित्व आप सहज में देख सकते हैं। इस समय अपभ्रंश भाषा का चलन भारतवर्ष में नहीं है, परन्तु उससे उत्पन्न पञ्जाबी और हिन्दी दोनों ही विद्यमान हैं। पञ्जाबी भाषा का अधिकार हिन्दी की भाँति फैलने नहीं पाया, पञ्जाब की सीमाबद्ध भूमि में ही उसका राज्य अब भी दिखता है। परन्तु प्रान्तीय भेद और उर्दू के प्रताप से बिचारी पञ्जाबी इस समय अस्तमित सी हो रही है और विशुद्ध पञ्जाबी बोलने वालों की गिनती, दुःख का विषय है कि दिनोंदिन कमती होती जाती है। शौरसेनी और मागधी प्राकृत से हिन्दी की उत्पत्ति जिन महानुभावों ने मानी है, वा जो मानते हैं, उनसे मेरा सविनय अनुरोध है कि, कृपा कर निरपेक्ष विचार से एक बार अपभ्रंश, शौरसेनी और मागधी इन तीनों प्राकृतों के साथ हिन्दी की तुलना कर देखें, तो निश्चय है कि, जितना अधिक सादृश्य अपभ्रंश प्राकृत से इसका दिखेगा उतना दूसरी से नहीं। अवश्य हिन्दी की राष्ट्र-व्यापकता ने शौरसेनी और मागधी के भी अनेकों शब्दों को अपना लिया है। परन्तु अवयव-सादृश्य और लेख-प्रणाली के अनुसार इसकी प्रकृति का मेल जैसा अपभ्रंश से मिलता है, वैसा शौरसेनी वा मागधी से नहीं। पञ्जाबी भाषा का विस्तार पञ्चनदप्रदेश और कुछ पाञ्चाल के थोड़े से [illegible]श में ही व्याप्त रहा; परन्तु हिन्दी ने पञ्जाब और पश्चिमोत्तर की जहाँ सीमा मिलती है, वहाँ से प्रारम्भ कर बिहार की पूर्व सीमा तक, और मध्यभारत, मध्यप्रदेश

तथा बरार और दाक्षिणात्य के हैदराबाद आदि देशों में अधिकार विस्तार किया। परन्तु इसका आदि जन्म स्थान पञ्जाब की सीमा तक पश्चिमोत्तर मेरठ प्रान्त का वह सुविस्तृत भूभाग है कि, जहां के दिहाती और ग्रामीणों की भाषा भी ठेठ हिन्दी है। आर्य्यावर्त्त के दूसरे प्रान्तों के दिहातियों की भाषा में जो विभिन्नता है. वह इस प्रान्त में नहीं है। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य विषय है।

इस समय हिन्दी की प्राचीनतम पुस्तकों में चन्दकवि का रासा ही प्रधान है। इसकी रचना और विशेष कर शब्द-विन्यास शैली पर भली भांति ध्यान देने से अनुमित होता है—किसी निर्दिष्ट एक ही समय में अकेले चन्द महाकवि ने इस पूरे महाकाव्य की रचना नहीं की थी। इसका कुछ मूल अंश चन्द के समय का उनकी ही लेखनी का लिखा और बहुत पुराना भी है परन्तु अधिकांश इसका बहुत दिनों पीछे लिखा गया है। हेमचन्द्र के समय से चन्द वरदायी का विशेष अन्तर नहीं है; दोनों प्रायः एक ही समय में हुए थे। मुसलमान बादशाहों के राज्य के प्रारम्भ समय में ही तुर्की फारसी भाषा के विदेशी शब्दों का इतना अधिक मेल हिन्दी भाषा में होना किसी भांति सम्भव नहीं था। कुमारपाल चरित महाकाव्य की रचना में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची, अपभ्रंश, प्राकृत आदि विविध प्रान्तीय भाषाओं का समावेश है। परन्तु उनमें कहीं एक भी अरबी तुर्की आदि भाषाओं का शब्द नहीं दिखाता। इससे सम्भव है कि विदेशी शब्द मिश्रित प्रयोग, जिन छन्दों में है, वे चन्द के बाद बहुत दिनों पीछे किसी दूसरे ने ही चन्द के नाम से उस महाकाव्य में रच कर मिला

दिये। यद्यपि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने पुराने कवियों के ग्रन्थों का पता लगा, उनका उद्धार करना अपना कर्त्तव्य समझा है सही, तथापि जिस उद्यम और उत्तमता से यह काम होना उचित था, वैसा अब तक नहीं हो सका है। हिन्दी की उन्नति के लिये सबसे पहले प्राचीनतम हस्तलिखित ग्रन्थों का विशेष परिश्रम और यत्न से संग्रह कर सुकवियों की कीर्त्ति-रक्षा के साथ ही हिन्दी-भाषा के इतिहास का पथ भी सुप्रशस्त करना अवश्य कर्त्तव्य है। यथासंभव कवियों की जीवनी, रचना का समय और क्रम सहित हिन्दी ग्रन्थों की विशद सूची का विशेष प्रचार हमारा सबसे प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये। यद्यपि बङ्ग भाषा में प्राचीन साहित्य ग्रन्थों का बाहुल्य नहीं है और इसलिये मैथिल भाषा के कवियों को अपने आदि कवि बना कर उनके ग्रन्थों का बङ्गालियों ने यत्न पूर्वक संग्रह किया है, तथापि इतने उद्यम मात्र से ही वे सन्तुष्ट न हुए और विशेष परिश्रम उठा खुले हाथों द्रव्य व्यय कर, बङ्गीय साहित्य-परिषद ने प्राचीन ग्रन्थों का प्रशंसनीय संग्रह भी किया है और छपाकर उनका सुलभ प्रचार करने से विमुख नहीं है। जब तक बङ्गालियों की भांति हिन्दी में भी प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार और विशेष प्रचार न किया जायगा, तब तक हिन्दी की सर्वाङ्ग सुन्दर उन्नति नहीं हो सकेगी। अवश्य, प्राचीन ग्रन्थों की भाषा का समझना सहज नहीं है, साथ ही हस्तलिखित प्रति का संशोधन और पाठान्तरों का निर्णय भी टेढ़ा काम है। विशेष सावधानता से अभिज्ञ विद्वानों से ही विचार पूर्वक इन काव्यों को विशद टीका टिप्पण सहित सुसम्पन्न कराना उचित है। प्राचीन को छोड़, आधुनिक काव्य

की ठीक ठीक समझ भी सब लोगों को नहीं है। यहाँ तक कि, प्रेम पूर्वक सैकड़ों ही कवित्त और सवैये जिन महाशयों ने कण्ठाग्र कर रक्खे हैं, उनमें भी अधिकांश न तो उन काव्यों का यथार्थ अभिप्राय और अर्थ ही समझते हैं, और न शुद्ध पाठ के विषय में ही पूरा ध्यान देते हैं। इसलिये पुस्तकों का मुद्रण ऐसी रीति से होना उचित है, जिसमें पाठ की पूरी पूरी शुद्धता पर ध्यान देने के साथ ही पाठान्तर भी टिप्पणी में दिखा दिये जायँ। समग्र काव्य की विशद टीका सहित छपाने की सामर्थ्य न हो तो कठिन स्थलों की व्याख्या और दुरूह शब्दों के अर्थ तो अवश्य ही दिये जायँ। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा में प्रायशः द्रव्य का अभाव रहता है; सर्व-साधारण हिन्दी-हितैषियों को इसके लिये विशेष चन्दे से उसकी द्रव्य सहायता, बिना विलम्ब के अवश्य ही करनी चाहिये। इस समय प्रायशः हिन्दी काव्य-ग्रन्थ विशेष दुर्दशा से छापे जाते हैं, गिनती के कुछ थोड़े से ग्रन्थ उत्तमता से प्रकाशित हुए भी हैं तो मूल्य उनका इतना अधिक रक्खा गया है कि दरिद्र भारत-प्रजा मोल लेकर उन पुस्तकों को कभी पढ़ ही नहीं सकती। अंग्रेज़ी में प्रसिद्ध कवि और विद्वानों के बड़े बूड़े नामी ग्रन्थ भी सुलभ मूल्य में मिलते हैं, परन्तु हिन्दी में इसका पूरा अभाव है। इस अभाव को शीघ्र ही मिटाना नागरी-प्रचारिणी और साहित्य-परिषदों का अवश्य कर्तव्य है। गोलोकवासी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के ग्रन्थों का प्रचार भी जैसा होना उचित था वैसा नहीं होता; संशोधन आदि कार्यों में त्रुटि भी विशेष रहती है। खड्गविलास प्रेस के पूर्ण अधिकार में ही बाबू

साहब के ग्रन्थ हैं। स्वेच्छा प्रवृत हो उस प्रेस के अधिकारी इस देश हितकर कार्य्य में अग्रसर न हो आनाकानी करें, तो हमारी सभाओं को उचित है कि, उनसे पत्र व्यवहार कर अथवा प्रतिनिधि भेजकर भी सुप्रबन्ध करावें और यथायोग्य सहायता भी इस विषय में दें। यदि इतने पर भी कार्य सुसम्पन्न होता न दिखे, तो जैसे बने उन पुस्तकों का अधिकार पुनः उनसे खरीद लें। तात्पर्य यह कि स्वर्गीय बाबू साहब के उपादेय ग्रन्थों का उत्तम विशुद्ध संस्करण और सुलभ प्रचार होना ही विशेष वांछनीय है।

आगरे के सुप्रसिद्ध, स्वर्गीय राजा लक्ष्मण सिंह जी ने भी हिन्दी की सेवा बहुत कुछ की, विशेष कर, ऐसे समय में कि जब बाबू हरिश्चन्द्र जी का परिचय भी लोगों को नहीं था। दुःख का विषय है कि, न तो स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह का यथायोग्य सम्मान और आदर ही हम लोग करते हैं और न उनके परमोत्तम ग्रन्थ-रत्नों के प्रचार का ही सुप्रबन्ध। हिन्दी में उनकी शकुन्तला और मेघदूत दोनों ही परमोत्तम श्रेणी के अद्वितीय ग्रंथ हैं। जिन निश्चलदास जी विरक्त पञ्जाबी साधु महात्मा ने योगवाशिष्ठ का सब से पहला अनुवाद हिन्दी में ५० वर्ष हुए किया उनका नाम भी आज कोई नहीं लेता। जिस जाति में गुण और गुणी का यथोचित आदर नहीं किया जाता, उसकी यथार्थ उन्नति भी असम्भव ही समझनी चाहिये। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी भी विशेष माननीय हैं। कारण, दयानन्द सरस्वती महोदय ने भी हिन्दी का सविशेष उपकार किया। वेदों का हिन्दी भाष्य उनकी अटल कीर्त्ति है। आज स्वामी जी महाराज के घोर

परिश्रम के कारण ही पञ्जाब में तथा अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार उत्तरोत्तर अधिक हो रहा है। परन्तु हिन्दी-हितैषियों को अपने इस परम कर्तव्य पालने से उदासीन न रहना ही उचित है।

बिना शिक्षा के योग्यता नहीं आती। यथोचित शिक्षा के अभाव से ही आज भारत की ऐसी हीन दशा उपस्थित हुई है। जब तक सर्वसाधारण भारतीय प्रजा में उपयुक्त शिक्षा का ठीक ठीक सुप्रबन्ध न किया जायगा, तब तक देश की दशा का सुधरना कठिन है। जिस प्रणाली से इस समय स्कूल और कालेजों में शिक्षा दी जाती है, वह इस देश के लिये उपयोगी नहीं है। क्योंकि, प्रथम तो इतनी महँगी शिक्षा मिलती है कि दरिद्र प्रजा को उतना बोझा अपने सिर उठाना सर्वथा असम्भव है। दूसरे, प्रायः ऊँचे विषय मात्र विदेशी अंग्रेज़ी भाषा में ही सिखाये जाते हैं, इसलिए उनके सीखने में समय भी चौगुना लग जाता है और परिश्रम भी इतना पड़ता है कि दाँतों पसीना आने लगता है। मन्दबुद्धि विद्यार्थी बेचारे तो ऐसी कठिनाई देख डर कर, उच्च शिक्षा की आशा ही छोड़ बैठते हैं। उत्तमबुद्धि वाले भी बहुतेरे द्रव्याभाव से अगत्या विमुख होते हैं। बाल्य-विवाह आदि सामाजिक प्रथाओं के कारण थोड़ी अवस्था में ही भारतवासियों का व्यय, प्रजाधिक्य से इतना बढ़ जाता है कि बिना उपार्जन किये किसी प्रकार से भी सब लोगों का तो निर्वाह ही नहीं हो सकता। उस दशा में वर्षों का परिश्रम और वित्त से बाहर द्रव्य व्यय कर भी वैसी शिक्षा के अधिकारी बनते हैं, उस से अभाव की पूर्ति का होना किसी विरले ही भाग्यवान के लिए सुलभ होता

होगा; नहीं तो रुपये में चौदह आने शिक्षित, जितने रुपयों की लागत से पास कर पढ़े लिखे विद्वानों की श्रेणी में गिने जाते हैं, सच पूंछिये तो जन्म भर परिश्रम करने पर उतना भी उपार्जन नहीं कर सकते। शिल्पकला की शिक्षा का सरकारी युनिवर्सिटियों में सोलहों आने अभाव ही है, इसलिए बिचारे नौकरी, डाक्टरी, वा वकालत करने के सिवा, किसी योग्य ही नहीं रहते। शिक्षितों में गिनती और बढ़ी हुई प्रतिष्ठा के भय से साधारण वाणिज्य व्यवसाय करने का उद्यम भी इस श्रेणी के सुशिक्षितों में नाम को नहीं दिखता और जो किसी विरले की वैसी इच्छा भी होती है, तो पूंजी के अभाव से मनमोदक का स्वाद चख कर ही उन उत्तम सङ्कल्पों से उन अभागों को तुरन्त ही अपने हाथ धोने पड़ते हैं। इन कारणों से, जब तक देश में शिक्षा का पूरा प्रबन्ध सुचारु रूप से हिन्दी भाषा में ही न किया जायगा, तब तक दिन पर दिन देश की और भी दुर्दशा ही देखने में आवेगी। माननीय पं० मदनमोहन मालवीय जी ने आत्मसमर्पण पूर्वक जिस अभिनव प्रणाली से "हिन्दू विश्वविद्यालय" सुप्रतिष्ठित कर भारत-सन्तानों को सुशिक्षित करना विचारा है, वह उद्यम सर्वथा स्तुत्य है और उसकी सहायता भी सब को यथाशक्ति करनी चाहिए। माननीय मालवीय जी से यह प्रार्थना भी अभी से कर रखनी ठीक होगी कि हिन्दी-भाषा में भी दर्शन, शिल्प और वाणिज्य आदि ऊँची शिक्षा का सुप्रबन्ध उक्त विश्वविद्यालय में अवश्य ही किया जाय, और हिन्दी में एम० ए० कक्षा तक पढ़ाने की योग्यता का ध्यान भी पूर्णतया अवश्य ही रक्खा जाय। अवश्य, इसलिए उपयुक्त पुस्तकों का विरचित होना भी सब से पहले

उचित है। परन्तु इतने से ही निश्चिन्त न होकर प्राइमरी एजुकेशन वा प्राथमिक शिक्षा का विशेष प्रचार और सुप्रबन्ध हिन्दी-हितैषियों का विशेष परिश्रम पूर्वक अपने हाथों नगर नगर और ग्राम ग्राम में बिना विलम्ब के करना पड़ेगा। माननीय गोपालकृष्ण गोखले ने बड़े लाट की कौंसिल में जो प्राथमिक शिक्षा-बिल उपस्थित किया है, उसका हमें स्वागत करना चाहिये। उसके पास हो जाने से हिन्दी का बहुत कुछ उपकार होगा। साथ ही हम लोगों को लाला लाजपतराय और लाला हरिकृष्णलाल की दूरदर्शिता और देश-सेवा के लिए उन्हें विशेष धन्यवाद देना चाहिये, कि जिन्होंने माननीय मि० गोखले के बिल के पास होने की प्रतीक्षा न कर लाहौर में बिना फीस के हिन्दू बालकों को प्राथमिक शिक्षा देने की व्यवस्था भी की है।

प्राथमिक पाठ्य पुस्तकों की भी जैसी दशा उपस्थित है, और जिस उदासीनता से हिन्दी भाषा के अधिकारी वा उन्नायक अब तक इस विषय को ध्यान देने योग्य ही न समझ कर कर्तव्य-पालन में पूरी पूरी त्रुटि दिखा रहे हैं; भविष्य में वैसी उदासीनता से अब काम न चलेगा। प्रत्येक नागरी-प्रचारिणी और साहित्य-परिषद् आदि सभा को उचित है कि अपने अपने अधिकार-युक्त प्रान्तों की प्राथमिक पाठ्य पुस्तक का विवेचन और निर्वाचन पूरी योग्यता से किया करें। सरकारी पाठशालाओं में भी अयोग्य पुस्तकों का प्रचलन जहाँ देख पावें, हाथ धोकर उसके पीछे पड़ जायँ और देश व्यापक लोकमत के बल से अयोग्य पुस्तकों के पढ़ने पढ़ाने की कुचाल को अवश्य ही शीघ्र रोकने का प्रयत्न करें।

हिन्दी की शिक्षा का सच पूंछिये तो कुछ भी सुप्रबन्ध इस समय तक ऐसा नहीं किया गया है कि जिससे हिन्दी-साहित्य का पूरा ज्ञान होने के साथ ही हिन्दी की परमोच्च शिक्षा विद्यार्थियों को मिल सके। सरकारी स्कूल मदरसों या देश-हितैषियों के स्थापित विद्यालयों में हिन्दी की सामान्य शिक्षा ही मिलती है। उसमें भी सरकारी पाठशालाओं के डाइरेक्टर अथवा इन्सपेक्टर आदि अध्यक्ष और कर्म्मचारी केवल अपनी समझ के भरोसे ही समय पर ऐसा व्यतिक्रम खड़ा कर देते हैं कि जिससे पाठ्यपुस्तक निर्वाचन की शैली ही विशेष निन्दनीय और बिगड़ी हुई है। स्वार्थवश लोभी पुस्तक-प्रणेता और ग्रन्थकार विषय, भाषा और विदेशीय शब्दों के विशेष व्यवहार का स्वेच्छाचार यहाँ तक कर दिखाते हैं कि, प्रान्त प्रान्त की पाठ्य पुस्तकों की भाषा में आकाश पाताल का प्रभेद देखने में आता है। इधर कुछ दिनों से हिन्दी और उर्दू का अन्तर मिटाने की चेष्टा भी कुछ लोग करने लगे हैं। वे समझते हैं कि, पार्थक्य केवल लिपि मात्र का है; भाषा का नहीं। इससे, उर्दू हिन्दी की ऐसी विचित्र खिचड़ी पकायी जा रही है कि जिससे भाषा की सुन्दरता नष्ट होने के साथ ही उसकी जड़ भी काटी जाती है। परन्तु विशेष आश्चर्य और दुःख से कहना पड़ता है कि, जिन विद्वानों से हिन्दी को बहुत कुछ आशा की जाती है और जिन सभा और परिषदों से हिन्दी के बनने बिगड़ने का विशेष सम्बन्ध है, न तो उनकी ही मोह-निद्रा का सहसा भङ्ग होता है और न साधारण हिन्दी-भाषा-भाषी ही लोकमत के बल पर ऐसे विषयों की चर्चा चलाते हैं। फल इसका यह होता है कि, हिन्दी-साहित्य संसार

में सोलहों आने अंधेर मच रहा है और जिसकी जैसी इच्छा होती है, वह मोम की नाक सी असहाया बिचारी इस अभागिनी हिन्दी को विकृत करने से कभी मुँह नहीं मोड़ता। अवश्य ऐसी उदासीनता का जब तक पूर्णतया अभाव न होगा, और हिन्दी के विद्वान स्वार्थ की अपेक्षा मातृभाषा की सच्ची सेवा को बहुमूल्य समझ स्वाधीनता के साथ महाराष्ट्रों की भाँति अपनी मातृभाषा का आदर और सम्मान करना न सीखेंगे, तब तक इसकी दुर्दशा का कभी अन्त न होगा। उपयुक्त शिक्षा के बिना शब्द-शास्त्र की पूरी अभिज्ञता अथवा साहित्य की मर्मज्ञता का होना असम्भव है। विद्यार्थी के अभिलाषानुसार पढ़ाने वाले हिन्दी के वैसे अध्यापक वा शिक्षा-मन्दिर आज कहाँ है? संस्कृत, अंगरेजी, बङ्गला, उर्दू अथवा कुछ कुछ फ़ारसी के पढ़े लिखे ही प्रायः इस समय हिन्दी के भाग्य-विधाता बने हुए हैं। बातें सुनने में कुछ कड़वी होने पर भी ऐसे काम की हैं कि अगत्या कहनी ही पड़ती हैं। अङ्गरेज़ वैय्याकरणों की पुस्तकों के सहारे ही हिन्दी के नामी विद्वान् बहुधा अपना कर्तव्य स्थिर किया करते हैं। हाय! कैसे दुःख की दशा उपस्थित है कि, एक प्रान्त में जिस महाराष्ट्री भाषा का अधिकार है, उसके सपूतों ने तो उसे विश्वविद्यालय की सर्वोच्च एम० ए० परीक्षा तक पहुँचा दिया है, पर आप बैठे हाथ पर हाथ धरे टुकुर टुकुर मुँह ताक रहे हैं! आज चन्द्र का महाकाव्य, सूरदास के कूट और गम्भीरपद, गुसाईं तुलसीदास की रामायण के अनेकों विचित्र भावपूर्ण स्थल और केशवदास, बिहारीदास आदि अनेकों सुकवियों के सुन्दर रस भरे काव्यों का पूरा

आस्वादन हम में कितने लोगों को प्राप्त हुआ है ? बताइये, इनके पढ़ने वाले कौन से अध्यापक महामहोपाध्याय की चरणशरण लें। अथवा वह विद्यालय कहाँ है, जहां जाने से उनको इन विषयों की पूरी शिक्षा मिल सके ? विश्वविद्यालय एम० ए० तक हिन्दी का अधिकार आज दे भी दे, तो उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें कहां हैं ? और कितने लोगों का इस विषय में आन्तरिक यत्न और परिश्रम दृष्टिगोचर होता है ? केवल जीविकार्थ सामयिक पत्र, उपन्यास वा प्राथमिक शिक्षा की दस पाँच पुस्तकों के प्रचारमात्र से ही मातृभाषा हिन्दी का उद्धार कभी न हो सकेगा। व्याकरण, कोष, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, इतिहास और शिल्प-कला आदि प्रयोजनीय ज्ञान बढ़ाने वाली और अर्थकरी विद्याओं की उत्तमोत्तम पुस्तकों का जब तक बहुलप्रचार न होगा, तब तक हिन्दी के लिए आप लोगों को यही समझना चाहिये कि हमारे किये अभी इसकी उन्नति के लिये यथार्थ में कुछ भी नहीं बन सका है। लेखप्रणाली, भाषा की शैली (Style) और शब्दविन्यास विषय में जहाँ घर घर अपना निराला, अनूठा और मनमाना सिद्धान्त चलाया जाता है और मिल कर परामर्श पूर्वक विशेषज्ञों की अधिक सम्मति से निर्णय कर यथार्थ उन्नति का सीधा मार्ग नहीं अवलम्बन किया जाता, वहाँ दुःख से यह कहना ही पड़ता है कि दस क़दम आगे बढ़ने की अपेक्षा आप धीरे धीरे पीछे को खिसक रहे हैं। व्याकरण बनाने की धूम बहुत दिनों से मचायी जाती है, परन्तु आज भी हमारी इस अभागी हिन्दी में नाम लेने योग्य ऐसा एक भी व्याकरण न बन सका कि, जिसकी

शिक्षा से हिन्दी का यथार्थ ज्ञान-लाभ हो, अथवा जिसे हम उत्तम व्याकरणों में ऊँचा आसन ही दे सकें। मित्र-वर्ग, क्या ये बातें हिन्दी के वा हमारे आपके गौरव की हैं? केवल कलह वा वितण्डावाद से फलसिद्धि कभी न होगी। परिश्रम पूर्वक हिन्दी के उपयुक्त विद्वान् जब तक उत्तमोत्तम पुस्तकों के बनाने का परिश्रम स्वीकार न करेंगे, तब तक यथार्थ उन्नति का होना सुकठिन है।

यद्यपि विभक्ति प्रत्यय और तिङन्त क्रिया आदि के न होने से उर्दू को एक स्वतन्त्र भाषा मानने में कुछ अटक सी पड़ती है, तथापि इसकी विकृति, विभिन्नता और विदेशीय धर्मानुकूल संगठन-शैली आदि संस्कारों से विधर्म्मियों ने इसे अपना कर क्रम क्रम से एक नयी उपभाषा ही बना लिया है: तदनुसार हिन्दी से उर्दू को अभिन्न और एक रूप मानना भी सोलहों आने अनुचित है। बहुरूपिये, केवल बनावट, वर्ण परिवर्त्तन और दांत, दाढ़ी, मोछ, केश और वेषभूषणों की विचित्रता के सहारे, व्यक्तिगत परिवर्त्तन के बिना भी इतने प्रकार के विभिन्न रूप धारण कर लिया करते हैं कि सुचतुर बुद्धिमान भी उनको किसी प्रकार से नहीं पहचान सकते और जब जैसा स्वांग लाते हैं तब यथार्थतः उस रूप का ही उनको सब लोग समझने लगते हैं; स्त्री पुरुष की विभिन्नता, विशेषता वा स्वाभाविक पहिचान भी सहज में नहीं ध्यान में आती। ऐसी दशा में सर्वथा विदेशीय वाक्यावली से विकृत, प्रायः सब बातों में उलटी ही चलने वाली स्वधर्म्म भ्रष्ट उर्दू को पूरे परिवर्त्तित विचित्र रूप में सुस्पष्ट भिन्नाकृति की प्रत्यक्ष देख कर भी अब बुद्धिमान उसे हिन्दी

से अभिन्न मान, कैसे अपना सकते हैं? इसकी लेखप्रणाली उलटी, वर्णमाला स्वतन्त्र, रुपये में पन्द्रह आने शब्द भी विदेशीय और अपरिचित, वाक्य रचना भी हमारे साहित्य और व्याकरण से सम्पूर्ण विरुद्ध, दोषयुक्त और अशुद्ध, इतने अनैक्य पर भी इसकी हिन्दी से एक रूपता वा अभिन्नता किस न्यायानुसार मानी जा सकती है? इसलिये ही हिन्दी भाषा के जितने अच्छे से अच्छे पूर्वाचार्य्य कवि और विद्वान हो गये, सब ने हिन्दी से उर्दू को विशेष बिगड़ी हुई, एक भिन्न उपभाषा ही माना। इनको एक तो उनमें एक ने भी नहीं माना। जैसे मैथिल और बङ्गला दोनों अलग अलग भाषा मानी जाती हैं; जैसे बङ्गला भाषा से ही उत्पन्न होकर और बङ्गला का ही प्रकार भेद कहाने पर भी आसामी और कौच भाषा स्वतन्त्र हैं, वैसे ही हिन्दी और उर्दू भी सर्वथा स्वतन्त्र भिन्न भाषा ही हैं। हिन्दी-हितैषी विद्वान् कहा कर भी जो महाशय हिन्दी से उर्दू को अभिन्न और एक मानते हैं, वे निस्सन्देह भूलते हैं। भूल भी यह सामान्य सी नहीं है। "बात सुनना होगी" आदि वाक्य हिन्दी व्याकरणानुसार निरे अशुद्ध माने जाते हैं। युक्ति और स्वतन्त्र व्याकरण के किसी प्रामाणिक नियम के बिना भी वैसे अशुद्ध प्रयोग उर्दू में शुद्ध ही गिने जाते हैं। संस्कृत और हिन्दी-काव्य से भी उर्दू-काव्य पूरी विभिन्न प्रकृति के हैं। हमारे साहित्य शास्त्रानुसार भारी से भारी दूषण ही उर्दू-कवियों के भूषण स्वरूप हैं। तड़फा तड़फा कर, थोड़ा थोड़ा गला रेत रेत कर, मारे जाते, मरण की उस दुस्सह पीड़ा के मारे छटपटाते लोहूलुहान मुमूर्षु मुरगे, (मुर्गबिस्मिल) नये, और पुराने गड़े हुए सड़े

शव कबाब आदि बीभत्स रस की सामग्री के बिना शृङ्गार रस का वर्णन उर्दू में प्रायः कभी सर्वाङ्ग सुन्दर नहीं होता। प्रधानतः नायक नायिका के स्वाभाविक प्रेमानुराग वर्णन को हेय समझ, पुरुष का किसी बालक से अवैध अस्वाभाविक प्रेमानुराग वर्णन ही उर्दू काव्य का प्राण माना गया है! नुक्ते-दार विकट शब्दों के अनूठे विकृत उच्चारण, श्रुतिकटु, कठिन दुर्बोध्य शब्दसमूह और इसकी उलटी वाक्य-रचना शैली भी हिन्दी की वाक्य-रचना शैली से सर्वथा विपरीत और विचारणीय है। इसलिये उनके थोड़े उदाहरणों का दिखाना यहां परमावश्यकीय है। जैसे—

(१) सहरकाज़ब के वक्त मुर्गबेहंगाम ने गुर्बये मिसकीन की आहट जो पायी तो घबरा कर कुकड़ूं कूं की बांग लगायी और हमारे जेब लबेब दक़ीका दस्त सुबह नफ़स जो सरशाम से लम्बी ताने मीठी नींद सो रहे थे, यह आवाज़ खुश आयन्द सुनते ही कुलबला उठे।

(२) जो मसरते हक़ीकी मुझे मुतालये कुतब में हासिल हुई है और किसी जगह नसीब नहीं हुई!

(३) उनके इश्क़ मोहब्बत के राज़ तिश्त अज़बाम हैं।

(४) वह दाखिल मंज़िल मकसूद हुए।

(उर्दू हिन्दी की विचित्र खिचड़ी)

(५) एक साहब ने हमें फरमाया है कि आप मधियाना वालों से यह प्रार्थना करें कि वह अगर और कुछ नहीं तो कम अज़ कम दशहरे के अय्याम में रामायण की कथा ही रखा दें।

(६) हिन्दी के पढ़नेवालों में लेश मात्र भी हमदर्दी नहीं।

(७) मैं इसके लिये आपको धन्यवाद देता हूं और मुब-लिग़ पांच रुपये का नोट आपकी सेवा में अर्सालि करता हूं।

जिनको अलिफ़, बे की रटन्त के साथ मौलवी और मुल्लाओं की तालीम नहीं मिली है, वे उर्दू की इन पंक्तियों का उच्चारण भी नहीं ठीक कर सकेंगे और वाक्यों का अर्थ भी उनको समझ में न आवेगा; केवल हिन्दी शब्द वा क्रियापद का अर्थ मात्र समझ लेंगे। भारतवर्ष में स्त्रियां, बालक और उर्दू फारसी के अनभिज्ञ मात्र उर्दू भाषा को समझने में असमर्थ होते हैं। जिन महानुभावों का यह दुराग्रह है कि, भारत की राष्ट्र-भाषा उर्दू ही है, उनसे निवेदन है कि ध्यान से इस कथन का भली भांति निरपेक्ष विचार करें। हिन्दुओं को छोड़ भारतीय मुसलमानों में भी अधिकांश ऐसे ही हैं जिनकी समझ में उर्दू ठीक ठीक नहीं आती। अवश्य उर्दू को आलिम-फाजिल और पढ़े लिखे मुसमानों की ही परम आदरणीय भाषा कहना चाहिये। सर्वसाधारण की वा भारत की राष्ट्र-भाषा उर्दू नहीं है और न कभी हो ही सकेगी। उर्दू का साहित्य इस समय निस्सन्देह समुन्नत दशा में है और सुपठित मुसलमानों के लिये बहुमूल्य रत्न सा होने पर भी हिन्दी-साहित्य से इसका सम्बन्ध और मेल नहीं है। भाषाओं में शब्दों का परस्पर विनिमय होना स्वाभाविक है, परन्तु कर्कशता और काठिन्य को छोड़ सरल रूप में श्रुति-मधुर बन कर एक भाषा का शब्द दूसरी भाषा में अपभ्रंश के नियमानुसार ही आ मिलता है। उस रूप से मिले हुए अरबी, फारसी या तुरकी भाषा के शब्दों को हिन्दी भाषा से सर्वथा अलग करने का पक्षपाती, मैं नहीं हूं। परन्तु

उनको विशुद्ध कर अविकृत रूप से नुक्ते लगा कर हिन्दी की सरलता और मधुरता बिगाड़ कर कठिनाई उत्पन्न करने का मैं पूरा विरोधी हूं। प्रथम तो जैसे धन-सम्पन्न मनुष्य को किसी से कर्ज काढ़ने की कभी आवश्यकता होती ही नहीं, वैसे ही सुसम्पन्न भाषाओं को भी दूसरी भाषा से शब्द उधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने शब्दों से सहज और विशेष शक्तिशाली दूसरी भाषा के शब्द ही घनिष्ठता बढ़ने पर आ मिलते हैं और उनका त्याग इस लिये ही असंभव है। परन्तु साहित्य सेवियों को शब्द-विन्यास के समय इतना ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए कि अनमिल बेजोड़ शब्द हठवश एक साथ मिला कर न लिखे जायं। जिस मेल के शब्द जिस वाक्य में सुन्दरता और सरसता बढ़ने की योग्यता रखते हैं, समझ कर उनका प्रयोग करना उचित है। हिन्दी की उपयुक्त शिक्षा के अभाव से इस समय संस्कृतज्ञों की लेखनी से तो संस्कृत वा तत्सम शब्दों का प्रवाह अभ्यासवश वाक्य-विन्यास में विशेषता से आने लगता है; दूसरी ओर फारसी पढ़े लिखे अभ्यासानुसार अरबी, फारसी और तुरकी के शब्दों को ही अविकृत वा विकृत रूप से विशेषता के साथ लिखते हैं। मूल हिन्दी भाषा के सुन्दर शब्दों पर न तो ध्यान ही कुअभ्यासवश जाने पाता है और न सहज में उन शब्दों का, लिखने वालों को स्मरण ही होता है। इस लिये यथार्थ पूछिये तो हिन्दी की विशेष हानि होती है, और नित्य व्यवहार में न आने के कारण इसका अपना भण्डार दिनों दिन ठेठ शब्दों की कमी से छीजता जाता है। इसका ध्यान रखकर भविष्य में हिन्दी-हितैषी मात्र परिश्रम पूर्वक

ठेठ हिन्दी के शब्दों का ही अधिकता से प्रयोग करें। जहां ढूँढ़ने पर भी वैसे शब्दों का लाना असाध्य हो, वहां संस्कृत के वा तत्सम शब्दों से काम चलावें तो मैं समझता हूं कि एक मात्र इस नियम के पालन से ही सर्वाङ्ग सुन्दरी हिन्दी की राष्ट्रीयता का मार्ग भी शीघ्र ही प्रशस्त हो जाय। असावधानता और परिश्रम-विमुखता से ही अब तक इस प्रयत्न से अधिकांश हिन्दी हितैषी विमुख हैं। विदेशी अरबी फारसी के दुरूह शब्दों का सर्वथा त्याग ही कर्तव्य है।

यद्यपि बङ्गभाषा की उत्पत्ति हिन्दी से बहुत दिनों बाद हुई। परन्तु उपर्युक्त मातृसेवकों के परिश्रम और प्रभाव से उसका साहित्य-भण्डार इस समय बहुत कुछ उन्नतावस्था को पहुंचा हुआ है। दुःख का विषय है कि, पढ़े लिखे हिन्दी के सुपुत्रों ने वैसा प्रयत्न अब तक नहीं किया। नवशिक्षित सुयोग्य पुरुषों पर ही हिन्दी का भविष्य भी निर्भर करता है। उनको उचित है कि हिन्दी के उपयुक्त अध्यापक और आचार्यों से हिन्दी की यथायोग्य अभिज्ञता लाभ कर अंग्रेजी से शिल्प, विज्ञान, दर्शन और रसायन आदि उपयोगी शास्त्रों की उत्तमोत्तम पुस्तकों की रचना से अपने साहित्य-भण्डार को परिपूर्ण कर लें। इस विषय में शब्दों की परिभाषा बनाने का बुद्धिमत्ता पूर्वक संस्कृत के अटूट शब्द-भण्डार से वैसी दशा में पूरा सहारा लेना उचित है कि जहां हिन्दी के शब्दों से प्रयोजन सिद्ध होना असम्भव दिखे। प्राथमिक शिक्षा से प्रारम्भ कर उच्चतम शिक्षा की पाठ्य •पुस्तकों की यथायोग्य समालोचना और लोकमत से हुई परिषद के द्वारा पुस्तकों का संशोधन आदि प्रतिवर्ष होना भी हिन्दी की उन्नति के लिए परमाव-

णयकीय है। क्योंकि उपयुक्त समालोचकों का हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में अभाव सा ही दिखता है।

अब हिन्दी-साहित्य की उर्दू से सम्पूर्ण विभिन्नता का प्रत्यक्ष अनुभव कराने के लिये हिन्दी-साहित्य का यथार्थ स्वरूप क्या है? संक्षेप से उसके निर्णय की पूरी आवश्यकता है। बिना हिन्दी-साहित्य का स्वरूपज्ञान हुए, न तो इसकी पहचान ही हो सकती है और न हिन्दी उर्दू के भेदों के समझने के साथ साहित्य के गुण दोषों का परिज्ञान ही हो सकता है। साहित्य की व्याख्या अब तक नवीन प्राचीन एक से एक चिन्ताशील मर्म्मज्ञ अनेकों सुरसिकवरों ने की है कोई कहते हैं कि साहित्य स्वर्ग की सुधा है, यह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति नहीं, रचयिता की भी निज की वस्तु नहीं, यह देवताओं की अमृतमयी रसीली वाणी है। कोई कहते हैं—स्त्री पुरुषों की विचारशक्ति को पुष्ट कर, ज्ञान और विवेक बुद्धि का गठजोड़ा बांध, सार्वजनिक कर्तव्य बुद्धि, और सब सद्गुणों सहित शील सम्पन्न बनाने के साथ ही मनुष्यों के मन को सर्वोत्कृष्ट अपूर्व अलंकारों से अलंकृत कर अपूर्व रसास्वादन का आनन्द उपभोग कराने के अद्वितीय साधन का नाम ही साहित्य है। मैं भी इन विद्वानों के स्वर में अपना स्वर मिला, यही कहता हूं कि—"सरद पूनों के समुदित पूरनचन्द की छिटकी जुन्हाई सकल मन भाई के भी मुँह मसिमल, पूजनीय अलौकिक पदनख-चन्द्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन औ कलङ्कित कर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती मुकाती निज भक्त जन मन वाञ्छित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों

मुक्त हाथों से मुक्ती लुटाती सकल कला आलाप कल कलित सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार-सुतार-तार सुर ग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तकाकलित मखमल से सम-धिक सुकोमल अति सुन्दर सुविमल लाल प्रवाल से लाल लाल करपल्लव बल्लव सुहाती विविध विद्या विज्ञान सुभ सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमन प्रकास हासबासव से अन-यास सुगन्धित सित बसन लसन सोहा सुप्रभा विकसाती सुविमल मानस बिहारी मुक्ताहारी नीर क्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद राज-राजहिय सिंहासन निवासिनी मन्दहासिनी त्रिलोक प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभाव-शाली सुजन मन मोहिनी नव रस भरी सरस सुखद विचित्र वचनरचना का नाम ही साहित्य है।" हिन्दी-साहित्य अनुपम नन्दन कानन में कानों को तृप्त करनेवाली कलकंठी कोइल की सुमधुर कुहुक और सुरसिक मधुपों की गुञ्जार, बारहों मास साज समाज सहित ऋतुराज की अनुपमेय शोभा दिखाती मनलुभाती सघन कुञ्ज से आती सुगन्धसनी पवित्र पवन के झकोरों से परम प्रसन्न करती, सुकवि की इस भावभरी सरस उक्ति को स्मरण कराती है कि—"सघन कुञ्ज छाया-सुखद, शीतल मन्द समीर। मन है जात अजौं वहै वा जमुना के तीर।" हिन्दी की पुष्पवाटिका में तभी तो—"सबै फूल फूले फबे चारु सोहैं, भ्रमैं भौर भूले, भले चित्त मोहैं। बहै मन्द ही मन्द ही वायु रूरे, सुवा से सबै भांति सों सोमपूरे। जयन्ती जपा जाति के वृक्ष नाना, धरे हैं चहूं कोदसों मोद नाना। सबेलो नबेलीन को रूप राचैं, लता लोलिनी लोल है नाच

नाचै। कहूं माधवी मल्लिका को वितानो, झरैं फूल लाजानि को ब्याजमानो। कहूं वेनुहूं वेनुलीलैं बजावैं, मलिन्दी चहूं मत्त है राग गावैं। कहूं कोकिलाली कुहूकैं पुकारैं, चकोरी कहूं शब्द ऊँचे उचारैं। कहूं चात की सात की भाव लीने, जकीसी चकीसी चहूं चित्त दीने।" आदि पदों से कवियों की प्रवीन बीन के सुरीले रागों के सुमधुर समालाप सौगुना अनुराग बढ़ाते हैं।

परन्तु स्वच्छ दर्प्पण पर ही अनुरूप यथार्थ सुस्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है! उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिम्बित प्रतिकृति, मानों समता की स्पर्धा में आ, उसी समय साम्हना करने साम्हने आखड़ी होती है! भला, कहीं अंधेरी कोठरी की मिट्टी की अति मलिन पुरानी भीत में भी कभी किसी का मुह दिखायी दिया है? अथवा उस पर किसी बिम्ब का प्रतिबिम्ब क्या कभी पड़ा सकता है? काव्य-साहित्य के यथार्थ मर्म्म को न समझनेवाले अरसिकों के मन भी वैसी ही कालकोठरी के समान सदा घनघोर गाढ़े अंधेरे घुप्प से मोहाच्छन्न उस अनुपमेय कविरचित छवि का प्रतिबिम्ब वा यथार्थ भाव ग्रहण करने में सब प्रकार से असमर्थ होते हैं! यह ही कारण है कि भाग्यवश कभी संयोग हो भी जाता है तथापि कोरे के कोरे वैसे ही बने रहते हैं! उन पर उसकी आभा तक नहीं झलकती!

जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है, जहाँ पठित, कोविद, क्रूर, सुरसिक, अरसिक सब श्रेणी के मनुष्य मात्र का समावेश है, वहाँ जिस समय सुकवि सुपण्डितों के मस्तिष्क सुमेरु के सोते के अदृश्य प्रवाहसम प्रगल्भ

प्रतिभा स्रोत से समुत्पन्न शब्द कल्पनाकलित अभिनव भाव-माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस हंसवाहिनी हिन्दी सरस्वती का कवि की सुवर्णविन्यास समुत्सुक सरसरसनारूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कल-रवकलकलित अति सुललित प्रबल प्रवाहसा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों के श्रवणपुटरंध्र की राह, मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्यरस चखाता है। उस समय उप-स्थित श्रोतामात्र यद्यपि छन्दबन्द से स्वच्छन्द समुच्चारित शब्दलहरी प्रवाहपुञ्ज का समभाव से श्रवण करते हैं; परन्तु उसका चमत्कार आनन्द रसास्वादन सब को समतुल्य नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है, जो जैसा मर्मज्ञ और रसज्ञ है, शिक्षा से सुसंस्कृत हो जिसका मन जितना अधिक सर्वाङ्ग-सुन्दरता सम्पन्न हुआ है, जिसमें जैसी धारणाशक्ति और बुद्धि है, वह तदनुसार ही उससे सारसंग्रहण और रस का आस्वादन भी करता है। अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और सम्पन्नता के अनुरूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूप का चमकीला प्रतिबिम्ब भी उनके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधावारिद से सब पर समभाव से खुले जी, खुले हाथों, सुरस बरसाते हैं। परन्तु सुरसिक-समाज पुष्पवाटिका के किसी प्रान्त में पतित ऊसर समान मूसरचन्द मन्दमति मूर्ख और अरसिकों के मन मरु-स्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस बूँदों के भी अन्तरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से विचारे उस नवेली नवरस भरी सुधा की बरसात में भी उत्तप्त, प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल

उड़ाते हैं। कवि कोविदों की कोमल कल्पनाकलित कमनीय कान्ति की छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मन पर कैसे पड़ सकती है ?

परन्तु मन्दमति अरसिकों के अयोग्य मलिन, अथवा कुशाग्रबुद्धि चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को भी यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना लिए बिना, उन पर कवि की परम रसीली उक्ति छवि छबीली का अलंकृत नखसिखलौं स्वच्छ सर्वाङ्ग-सुन्दर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिम्ब कभी न पड़ेगा। जैसे अति स्वच्छ समतल काँचफलक पर भी जब तक पारद संयोग से 'कलई' न चढ़ाई जायगी, तब तक (कांच) अनुरूप रूप को यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित दिखाने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। वैसे ही सर्वोत्तम बुद्धिमान को भी जब तक श्री गुरुचरण शरण में जा, साहित्य शास्त्र की यथार्थ शिक्षा से ठीक संस्कार न उत्पन्न हो लेगा तब तक उसके उस कांच-फलक सम स्वाभाविक स्वच्छ मन पर भी कवि उक्ति रूपिणी उस अनूप सुन्दरी छवि का जैसा चाहिये वैसा अनुरूप सर्वाङ्ग सम्पन्न सुस्पष्ट सुन्दर चित्र तो कभी अङ्कित ही न हो सकेगा। मन्दमति के अति मलिन मन को रगड़ मांज उस पर से पुरानी जमी हुई मलिनता की गाढ़ी कालिमा को धो पोंछ कर उसी ही रीति से निपुणता के साथ दूर करना होगा कि जिस रीति से पुराने विशेष मलीन काँच को पूरी सावधानी से जल और क्षारसंयोग से पुलके हाथों (कारण बल-प्रयोग से दोनों टूट कर निकम्मे हो जाते हैं ।) उत्तमता से स्वच्छ कर, कलईगर उन्हें कलई चढ़ाने योग्य कर लेता है। बुद्धिमानों के मन स्वभावतः स्वच्छ होते हैं, इसलिये प्रारम्भ में ही उनके

उस प्रकार से माँजने धोने की आवश्यकता नहीं होती; बस इतनी ही विशेषता है।

यथोचित शिक्षा संस्कार सम्पन्न सुशिक्षित मन ही विषयों का यथार्थ प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो, ज्ञान लाभ करते हैं। जिसको जिस विद्या का ज्ञान है वह उसका ही मर्म्मज्ञ भी होता है दूसरी का नहीं। केवल शुष्क वैय्याकरण की तो गणना ही क्या है? साहित्य शास्त्रानभिज्ञ छवों शास्त्र का पारदर्शी क्यों न हो जाय, परन्तु कविता का सम्यक् रसास्वाद तो दूर की बात है, साधारण कविता के अक्षरार्थ समझने पर भी यथार्थ भाव ग्रहण करने को सिर धुनता और हाथ पटकता ही आजन्म भटकता रहेगा। तथापि बिना काव्य के यथार्थ मर्म्मज्ञ के चरणों का आश्रय लिये, कवि की निगूढ़ रसीली कटीली चमत्कारी ध्वनि का पूर्णरूप से भाव समझ कर, शान्ति लाभ न कर सकेगा। इसलिये साहित्य की यथायोग्य शिक्षा का सुप्रबन्ध करना सबसे पहला कर्तव्य समझना चाहिये। शिक्षा और विषय भेद से भाषा भी विविध रूप की लिखी जाती है, और उनकी वाक्य रचनाशैली और पदविन्यास भी स्वतन्त्र नियमानुसार किये जाते हैं। एक ही प्रकार की भाषा का सर्वत्र प्रचलन जो महानुभाव किया चाहते हैं वे एक ही रस्सी में सब को एक साथ बाँधने की अनहोनी चेष्टा से निस्सन्देह हास्यास्पद होने का ही निकम्मा प्रयत्न करते हैं। भाषा की कठिनता या सरलता विषय और अपनी अपनी योग्यतानुसार ही समझी जाती है। दार्शनिक अध्यापक के लिये जिस भाषा का समझना सहज है निम्न कक्षा के विद्यार्थी के लिये वह परम दुरूह, लोहे के चने हैं। सुकवि जिन भावों को

सहज में समझते समझाते हैं, शब्दार्थ समझने पर भी शुष्क वैय्याकरण, दार्शनिक वा मीमांसक उसे समझ ही नहीं सकते। सबके लिये सब विषय वा सब के लिये सब प्रकार की भाषाएँ सहज भी नहीं और दुरूह भी नहीं हो सकतीं। अवश्य भाषा की जटिलता किसी विषय में भी साध्यानुसार न रहने देनी चाहिये। ऐसी सरल भाषा ही सर्वोत्तम कहाती है कि जिसके श्रवण मात्र से अर्थबोध होकर भाव पूर्णतया समझ में आ जाय। परन्तु विषय की अत्यन्त गम्भीरता और कठिनता के आगे भाषा सरल से सरल लिखने की चेष्टा करने पर भी अभीष्ट विषय का समझाना सर्वत्र न तो भाषा के अधिकार में है, और न सबकी समझ हा एक सी भावग्राहिणी संसार में देखने में आती है।

सामर्थ्यानुसार सब विषयों को सरल भाषा में लिखना ही उचित है। परन्तु समाससिद्ध पद और लम्बे वाक्यों से जैसी विशेष घृणा इस समय सुशिक्षितों में दिखती है, उसकी प्रशंसा मैं नहीं कर सकता। कारण यह कि, संस्कृत के साहित्य भाण्डार में पद्य ग्रन्थों की अपेक्षा गद्य ग्रन्थों का इतना अभाव है कि नहीं से ही समझने चाहियें। उल्लेखयोग्य कादम्बरी और दशकुमार चरित ये दो ही हैं। इनकी रचना चातुरी विशिष्ट सरस पदविन्यास शैली सुदीर्घ वाक्यों से ही समलंकृत है। तथापि केवल संस्कृतज्ञ ही नहीं संसार भर के विद्वान इन दोनों ग्रन्थों की परमोत्तम रसभावमयी भाषा की सौ सौ मुँह से प्रशंसा ही करते हैं। हां, इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत के सुपण्डितों में भी आज तक वैसी भाषा में ग्रन्थ रचना करनेवाले महानुभावों ने जन्म ग्रहण नहीं किया। साहित्य

की वैसी ऊंची भाषा का लिखना भी दुरूह है और समझना भी। परन्तु वैसी परमोत्तम भाषा से घृणा करना अथवा उसे व्यर्थ का दूषण देना सर्वथा अनुचित है। हिन्दी-साहित्य-सेवियों का सबसे प्रधान उद्देश्य अपना यह समझना उचित है कि भाषा को उस योग्य बनावें कि जिसमें सब प्रकार के भावों का प्रकाशित करना सहज हो, और भावप्रकाश करने योग्य शब्दों से हिन्दी का भाण्डार दिनों दिन परिपुष्ट होता रहे। क्योंकि, जिस भाषा में वैसे शब्दों का ही अभाव होगा, वह भाव प्रकाश करने में कब समर्थ होगी। शब्द सम्पत्ति ही भाषा का प्राण समझा जाता है।

इन दिनों हिन्दी के बहुतेरे सुलेखक बङ्गभाषा से अनुवाद कर हिन्दी की पुष्टिसाधन करने में यत्नवान् दिखते हैं। उत्तम विषयों का भाषान्तर करना बुरा नहीं, प्रत्युत हितकर ही होता है। परन्तु अनुवाद करने की योग्यता लेखक में पूरी पूरी होनी चाहिये। दुःख का विषय है कि, इसका हिन्दी लेखकों में बड़ा ही अभाव है। केवल विभक्ति चिन्ह और क्रियाओं को हिन्दी रूप से लिखना ही अनुवादक अपने कर्तव्य की इति श्री मानते हैं। इसलिये ही हिन्दी में बहुत से अशुद्ध बङ्गला शब्दों का प्रचलन होने के साथ ही बङ्गलापन आता जाता है। बहुत से स्थलों पर तो अनुवादकों की अयोग्यता से अर्थ का अनर्थ भी सङ्घटित होता है। "उस समय कृतकार्य्य लोगों की राह अनुसरण कर उनको केन्द्र बना दल दल में लोग आते हैं, चिन्ता और कर्म के केन्द्र को पूरा कर डालते हैं।" इस उदाहरण में ऊपर की लिखी सब बातें प्रत्यक्ष हैं। बङ्गला "दले दले" का अनुवाद लेखक ने "दलदल में" कर

बिचारी हिन्दी को सचमुच दलदल में ही फँसा दिया है। ऐसे अनुवाद हिन्दी में न होने चाहिये।

सब से पहले व्याकरण का उद्धार कर्तव्य है। व्याकरणों की जैसी दुर्दशा इस समय वर्तमान है तदनुसार हिन्दी पढ़ने वालों का काठिन्य विशेष बढ़ता जाता है, परन्तु व्युत्पत्ति और ज्ञान इन व्याकरणों से यथोचित नहीं होता। दो श्रेणी के व्याकरणों का बनना परामर्श सिद्ध है। प्रथम तो बालकों के लिये व्याकरण की मोटी बातों को सुगमता के साथ सहज में समझाने वाली छोटी छोटी पोथियों का प्राथमिक शिक्षा के विद्यालयों में प्रचार होना परमोचित है। परिपक्व ज्ञान वाले ऊँची श्रेणी के और हिन्दी के अनुरागी अभिज्ञ गृहस्थों के लिये सर्वाङ्ग सम्पन्न ऐसा व्याकरण बनना चाहिये कि जिसमें विवादास्पद विषयों की मीमांसा और वर्णविन्यास से आरम्भ कर सुबन्त, तद्धित, कृदन्त, कारक, समास, विभक्त्यर्थ निर्णय प्रकरण और तिङन्त क्रियाओं के सहित असमापिका क्रिया के विषय में भी यथायोग्य विशद रीति के नियम परिभाषा और कठिन विषयों को विस्तार से सहज में समझाने के लिये किसी प्रकरण की भी त्रुटि न हो। जब तक ऐसे व्याकरणों का प्रचार न होगा, तब तक हिन्दी का परिज्ञान अथवा यथार्थ शिक्षा का अभाव ही रहेगा। कोष रचना से भी पहले ही व्याकरण का ऊपर लिखी हुई रीति से बनना अभीष्ट है।

आनन्द का विषय है कि काशी की नागरी-प्रचारणी सभा विशेष यत्न और परिश्रम से हिन्दी-कोष बनाने को अग्रसर हुई है। तत्सम तद्भव देशज शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाने के

साथ ही अर्थ समझाने को प्रसिद्ध कवि और लेखकों के ग्रन्थों से शब्दों के उदाहरण देने की विशेष आवश्यकता है। आशा है कि कोष सम्पादकों ने इस विषय में त्रुटि न की होगी। लिङ्गनिर्णय और लेख प्रणाली का विषय भी हिन्दी में विशेष जटिल है। बाबू भगवान दास हालना के पत्रानुसार यदि कोष समिति ने एक ही "ब" से काम निकालना उत्तम समझा हो, तो निस्सन्देह भूल की, अन्य शब्दों की लेख प्रणाली की अशुद्धता पर भी इस दशा में पूरा ध्यान देना असम्भव ही दिखता है। प्रथम से ही सावधान हो इन दोषों को कोष में न आने देना ही उत्तम होगा।

हिन्दी का परम दुर्भाग्य है कि एक एक कर इसकी यथोचित सेवा करनेवाले सुयोग्य पुत्र रत्न इसकी गोद सूनी करते जाते हैं। उनका अभाव पूरा करनेवालों का सद्भाव नहीं दिखता। बहुतों के लिये रो चुके और रो ही रहे थे कि, इस सत्यानाशी वर्ष ने महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, जैसे हिन्दी-हितैषी को हम से सदा के लिये छीन लिया। आप उस समय से हिन्दी की सेवा में तत्पर थे, कि जिस समय गोलोकवासी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की अपूर्व प्रतिभाप्रसून की सुगन्धि से भारतवर्ष महक उठा था। अपनी इस वृद्धावस्था में भी सुधाकर जी ने हिन्दी की सेवा से मुँह नहीं मोड़ा था। इनकी शोचनीय मृत्यु से जैसा अभाव हुआ है, उसकी पूर्ति का होना सहज नहीं दिखता। साथ ही परम कष्ट से सोदरसम भाई दुर्गाप्रसाद मिश्र के असमय वियोग का उल्लेख करते भी मर्मवेदना उपस्थित होती है। साहित्य सेवा सम्बन्ध के अतिरिक्त मेरे वह बाल-सखा थे और उनकी इस हृदय

विदारक मृत्यु से तो मानों मेरा दहना हाथ ही टूट गया। इनके अभाव का कष्ट औरों की अपेक्षा मुझको अत्यन्त अधिक है, इसलिये इनके विषय में अधिक कहने की सामर्थ्य भी मुझ में नहीं है। पं० पुत्तनलाल शर्म्मा भी अकाल ही कालकवलित हुए। आप 'मोहिनी' का सम्पादन योग्यता से करते थे और सारस्वत ब्राह्मण थे। आपकी देश भक्ति और मातृ सेवा प्रशंसनीय थी। क्योंकि प्रेस एक्ट के पहले ही "मोहिनी" के स्वत्वाधिकारियों ने समय की कठिनता देख सम्बन्ध छोड़ दिया था, परन्तु आपने पत्रिका को बन्द न होने दिया और अपने सिर पूरा बोझा लेकर प्रेस एक्ट होने पर भी बराबर योग्यता के साथ सम्पादन किया। हा! कैसे कष्ट का विषय है कि उनकी अकाल मृत्यु से मोहिनी भी संसार से उठगयी। सज्जनों, अब मैं अपने कथन को समाप्त करूँगा। हिन्दी-भाषा-भाषियों में चुने हुए सुयोग्य विद्वानों की यह परिषद है। इसके सदस्य मात्र बहुज्ञ और कार्य्यकुशल हैं। उनके आगे विशेष कहने की आवश्यकता न होने पर भी मैंने बहुत सा समय लेने की ढिठाई की है। परन्तु मुझे आशा है कि मेरी प्रार्थनाओं का सविशेष ध्यान कर जिन विषयों के पहले सम्पन्न करने की आवश्यकता है, उनको शीघ्र ही अपने निर्णय यथायोग्य विचार से भविष्य कार्य्यप्रणाली अनुसार कार्य परिणत कर हिन्दी का हित पूर्णतया करना ही कर्तव्य समझेंगे और भ्रम या भूल से जिन विषयों का उल्लेख मैंने किया हो प्रसङ्ग आने पर उनका ध्यान भी अवश्य ही दिलावेंगे। विशेष बुद्धिमानों से कहने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर शीघ्र ही हिन्दी और हिन्दी-भाषा-भाषियों के अभावों को दूर कर भारत की सुखसमृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ावें यही प्रार्थनीय है।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥